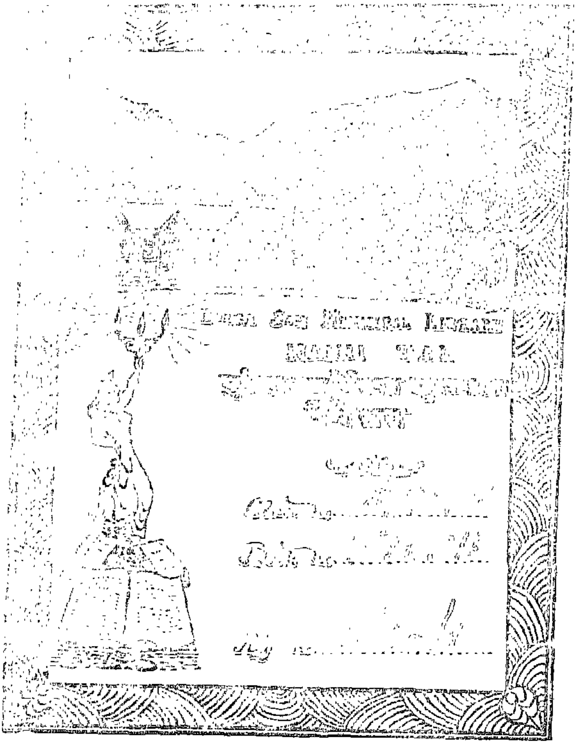


द्विचकियाँ

अपने और अपने परिचितों के सम्बन्ध में प्रशंसा तो सभी करते हैं किन्तु मैं उसके योग्य नहीं हूँ मैं कहानियाँ लिखता हूँ अपने मन बहलाव को। मेरी अनेक कहानियाँ माया-मनोहर कहानियाँ-रंगमहल-दादर-चलचित्र-नवयुग-सरस्वती आदि में प्रकाशित हुई हैं, परन्तु पुस्तक के रूप में यह संग्रह पहिला ही है। इसकी कहानियाँ नवीन हैं और वे मुझे अधिक प्रिय भी हैं। अनेक स्वज्जनों की सम्मति से इसका प्रकाशन हुआ और अब यह आपके हाथों में है। सबसे अधिक मैं अपने मित्र श्री राजेश दीक्षित का आभारी हूँ जो कि समय समय पर मेरा उत्साह बढ़ाते रहे।

दर्द भरी दास्तान, हृदय को मरोड़ देने वाली मानवीय समस्यायें, विषमता की चक्कीमें पिसती हुई आत्माओं का करुण-क्रन्दन, समाज की हँसती-मुस्कुराती-रोती-तड़पती तस्वीरों की सजीव कहानियाँ पायेंगे आप इसमें। अब आप ही बतायें कैसी हैं? आप पढ़ना चाहें तो यह बरबस ही बुला लेंगी आपको, बातें करेंगी आपसे, खेलने लगेंगी आपसे, जरा इन्हें छेड़कर – छूकर तो देखिये फिर लिखियेगा मुझे।

——जगदीशप्रसाद शर्मा 'जितेन्द्र'

ड्योढ़ियाँ

हिचकियाँ :-



श्रीमती सुभद्रादेवी शर्मा

स्व० श्री शक्तिपाल शर्मा एम० ए०, साहित्यरत्न

की पावन—स्मृतिमें

'उनकी सहचरी'

श्रीमती सुभद्रादेवी शर्मा

के चरण-कमलों में

सादर, सानुराग—

—'जितेन्द्र'

गति-क्रम

हिचकियाँ

(उच्चकोटि की सामाजिक-भावात्मक-शिक्षात्मक कहानियाँ)

भूमिका लेखकः—

श्री लक्ष्मीरमण आचार्य बी० ए०, एल-एल० बी०

उपमंत्री, उत्तर-प्रदेश लखनऊ

जगदीशप्रसाद शर्मा 'जितेन्द्र'

प्रकाशक:—
जगत बुक डिपो
सतघड़ा, मथुरा—१

भूमिका लेखक:—
श्री लक्ष्मीरमण आचार्य

लेखक:—
जगदीशप्रसाद शर्मा 'जितेन्द्र'

चित्रकार:—
ब्रजकिशोर
किशोर स्टूडिओ,
मथुरा।

प्रथम संस्करण—१
अक्टूबर, १९५५ ई०

मुद्रक:—
बैजनाथ दानी
लोक साहित्य प्रेस,
विश्राम बाजार, मथुरा,

मूल्य:—
दो रुपया



श्री लक्ष्मीरमण आचार्य

भूमिका—

संसार का कथा-साहित्य अनुपम तथा बहुत विशाल है और देखने से ज्ञात होता है कि मनुष्य को आदिकाल से कथा कहना और सुनना रुचिकर हुआ है। हिन्दी का कथा-साहित्य एक प्रकार से अपने रूप में सीमित रह चुका है। इसमें बहुत कुछ वृद्धि हुई है और अभी-भी वृद्धि की बहुत आवश्यकता है। हमारा कथा-साहित्य सुलभ, सुरुचि सम्पन्न और जीवन के बहुत निकट बन सके, ऐसी कामना प्रत्येक हिन्दी साहित्य का प्रेमी कर सकता है। मेरे विचार से हिन्दी-साहित्य को इस दिशा में आगे बढ़ाने के लिए अग्रसर होना पड़ेगा।

इस पुस्तक की मैंने कुछ कहानियाँ पढ़ी हैं।

श्री जगदीशप्रसाद शर्मा 'जितेन्द्र' का यह छोटा कथा-संग्रह सम्भवतः इस दिशा में उपयुक्त समझा जाय तथा इनको आगे बढ़ने का अभी बहुत अवसर है। मैं अपनी ओर से केवल यही कामना कर सकता हूं; कि लेखक सत-साहित्य और कलापूर्ण भावनाओं से सम्पन्न होकर अपने लेखन कार्य में कुशलता प्राप्त करे तो यह हिन्दी साहित्य के लिए अच्छी ही बात होगी।

विधान भवन, —लक्ष्मीरमण आचार्य

लखनऊ उप मंत्री–

अक्टूबर ४, १९५५, सार्वजनिक निर्माण विभाग

बदला

आनन्दपुर,

दिनाङ्क १० जून, १६५५

प्रिय एवं जीवन के सब कुछ..........!

आज बैठा तो था कुछ पढ़ने, किन्तु पढ़ कुछ भी न सका। यहाँ तक कि कोई पुस्तक भी नहीं उठाई। कुछ समय तक यों ही बैठा रहा। फिर 'कुछ' पढ़ा—किन्तु परितोष न हो सका। उसे भी एक ओर पटक दिया। छत की कड़ियों पर दृष्टि जमा कर सोचता रहा कुछ देर तक। तब फिर 'घटा' की याद आ गई। 'अपना-पराया' किताबों में तलाश किया; किन्तु, दुर्भाग्य से वह मिला भी नहीं। तब एकाएक 'बहूजी' सामने आ गईं—उन्हें भी कुछ समय तक देखा; किन्तु सन्तोष वहाँ पर भी न मिल सका—वहाँ पर भी मात्र अनुताप एवं करुणा से रँगे पृष्ठों को देखा। वेदना तब और भी बढ़ी। मन कुछ क्षुब्ध सा हो गया। दुःख हृदय के बाँध को तोड़कर बाहर निकलने का प्रयास करने लगा। तब सोचा कि इस दुःख को भावना के स्रोत में कागज पर क्यों न बहा दिया जाय! और बस, तभी पत्र लिखने की सूझ उत्पन्न हो गई।

पत्र लिखने का निश्चय किया,—लेखनी, दावात, कागज आदि सभी लेखन-सामग्री एकत्र की और लेखनी हाथ में भी ले ली; किन्तु जब सम्बोधन लिखने बैठा तो कोई भी अभिन्न मुझे ऐसा दृष्टिगोचर न हुआ, जो मेरे इस निरर्थक प्रलाप को सुनता। बारी-बारी से सभी मित्रों को मैं हठपूर्वक अपने समक्ष ले आया, किन्तु उनमें से कोई भी सुनने को उद्यत न हुआ। तब मुझे कुछ खेद का अनुभव अवश्य हुआ, किन्तु उसी समय तुमको अपने सामने पाकर एक नवीनतम आशा का संचार हुआ! और उसी हर्षातिरेक में तुम्हें सम्बोधित कर मैंने लिखना प्रारम्भ कर ही तो दिया। यद्यपि पत्र लिखने से पूर्व यह आशङ्का अवश्य ही हुई कि तुम भी न जाने इस प्रलाप को सुनोगे या नहीं—तुम भी अपने बहुमूल्य समय के थोड़े से अंश को व्यर्थ बनाना चाहोगे या नहीं; परन्तु फिर भी लिखने का ही दृढ़ निश्चय रखा। सोचा, हमें तो लिखना ही है, तो फिर लिखें क्यों नहीं? अवश्य लिखेंगे। चाहे तुमको अच्छा लगे या न लगे—एक बार पढ़ोगे तो अवश्य ही! गधे को यदि रेंकना है, तब तो वह अवश्य ही रेंकेगा, चाहे उसका पंचम स्वर भले ही किसी को अच्छा न लगे; किन्तु सुनेंगे सभी कोई—और फिर कोई अपने कान बन्द तो कर ही न लेंगे।

हाँ, तो मित्र! तुमको मैंने अपने पत्र का माध्यम पुरुष चुना। अपनी व्यथा सुनाने के लिये तुम्हीं को अपने सामने लाकर उपस्थित किया। अच्छा, तो लो, अब सुनो :—

"पिछले सप्ताह, घर से एक पत्र मिला था। कुछ परिचित पंक्तियों के पश्चात् लिखा था उसमें :—

"तुम बहुत कहा करते थे कि इन्दु से मेरा परिचय करा

दो—एक बार केवल उसे दिखा दो। ऐसा न जाने क्या है उस इन्दु में, जो उससे मिलने के लिये तुम इतने उत्सुक रहते हो? हाँ, तो इसी रविवार को तुम्हारी इन्दु, हमारी पड़ौसिन सोना के घर आ रही है। सोना के भाई की वर्ष गाँठ है और इन्दु उसके रिश्तेदारों में से कोई है, अतः जब वह यहाँ आवेगी, मैं उसे कुछ समय तक अपने यहाँ रोक रखूँगी। सोना के घर का निमन्त्रण तो तुमको भी मिल गया होगा, अतः तुम भी आना? किन्तु जरा जल्दी ही आने का प्रयत्न करना—दोपहर तक। हो सकता है वह अधिक न ठहर सके।"

'पुनश्च' लिखकर पुनः दो पंक्ति और लिखी गई थीं,—"किन्तु, देखना, कहीं ऐसा न हो जाय कि इन्दु तुम पर कुछ कर दे और तुम फिर उसी के बन जाओ। यहाँ हम हाथ झड़ाकर देखते ही रह जाँय, टुकुर-टुकुर······।"

हाँ, तो मित्र! यह इन्दु मेरे अपरिचित प्रेमियों में से एक हैं। इन्होंने मुझे आज तक कभी नहीं देखा और न मेरे चक्षु-चञ्चरीक ही इनकी रूप-माधुरी का रसास्वादन कर सके। किन्तु फिर भी मित्र! हम चाहते एक-दूसरे को अनन्य रूप से हैं। नेत्र एक-दूसरे को देखने के लिये प्रायः हर समय ही व्यग्र रहते हैं। वे बहुधा अपनी बहिन से (मेरी पत्नी से, क्योंकि एक दूर के रिश्ते में वे उनकी बहिन होती हैं) कहा करती हैं, "राजी दीदी! एक बार तो तुम अपने आराध्य देव के दर्शन करा दो। सच कहती हूँ बहिन! छीन न लूँगी मैं उन्हें तुमसे! और फिर एक बार के देख लेने मात्र से ही वे मेरे 'सब कुछ' नहीं बन जावेंगे।" मैं भी अपनी श्रीमती जी से, क्योंकि वही हमारी बिचौनी हैं, इसी प्रकार निवेदन किया करता हूँ;—कहता हूँ, 'देवि! एक

बार तो तुम अपनी सहचरी से मेरा परिचय करा दो—केवल एक बार दो-दो बातें करने का सौभाग्य प्राप्त करा दो—तुम मुझे। मैं तुम्हें विश्वास दिलाता हूँ, केवल एक बार ही में—मैं······और फिर अब तो मैं तुम्हारा बन चुका हूँ, तुम्हारी उपेक्षा करके उसे न अपना सकूँगा मैं।" "समय आने दो।" कहकर हमारे बिचौली महोदय भी हमको आश्वस्त कर देते थे।

किन्तु, मित्र ! अब और अधिक प्रतीक्षा करने की आवश्यकता न रही। श्रीमती जी ने हम दोनों के सम्मिलन की व्यवस्था निश्चित करली थी। बड़ी उदार हैं वे। चिरकाल से उत्सुक, उमगते हुए दो हृदय-सरोवरों को मिलाकर कुछ समय के लिये एक बना देने के लिये प्रयत्नशील थीं वे।

अच्छा, तो मित्र ! तुम यह जानने के लिये अवश्य उत्सुक होगे कि मेरा और इन्दु का परस्पर क्या सम्बन्ध है ! और सर्वथा अपरिचित होते हुए भी एक-दूसरे के प्रति क्यों इतना प्रेम है, ममत्व है, आकर्षण है, उत्सुकता है। वस्तुतः, मित्र ! तुम्हारी यह जिज्ञासा अस्वाभाविक नहीं है। मैं भी इसी प्रकार सोचता होता यदि······; किन्तु यहाँ तो बात ही कुछ और थी। हाँ, तो हृदय में केवल थोड़ा-सा स्थान दे देने के अतिरिक्त मेरा और इन्दु का परस्पर में कोई प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष सम्बन्ध अब नहीं रह गया है। हाँ, कुछ समय पहिले तो अवश्य वह मेरी 'सब कुछ' बनने जा रही थी। किन्तु अब ? अब तो उनके जीवन की डोर किसी दूसरे ही स्तम्भ से बँध चुकी है; और इधर मेरी झोंपड़ी पर भी 'किसी' ने थोड़ा-सा फूस लाकर डाल दिया है। उस समय, जब कि मेरे और इन्दु के विवाह का प्रस्ताव चल रहा था प्रायः सभी लोग सहमत थे इस सम्बन्ध से। पिताजी चाहते थे

कि कोई सुन्दर-सी सुलक्षणा कन्या मिल जाय तो अभी अभी अपने सतीश का विवाह करलूँ। माताजी कहा करतीं,—"उहँ, कोरी कन्या से ही क्या होता है ? दहेज भी तो चाहिये अच्छा-सा।" और यहाँ, इस सम्बन्ध में दोनों बातें एकत्र ही मिल गई थीं, पिताजी की रुचि के अनुकूल कन्या—और माताजी का चिरा-कांक्षित भरपूर दहेज ! इन्दु के घर वाले चाहते थे, 'प्रतिष्ठित कुल हो, लड़का पढ़ा लिखा हो'। अतः उनको भी मेरे यहाँ यह सब इच्छानुकूल ही मिल गया था। रही मेरी और इन्दु की बात, सो हम दोनों भी इस प्रस्ताव से पूर्णतया सहमत थे। इन्दु के पिता कुछ प्राचीन रूढ़िवादियों में से थे। विवाह के पूर्व कन्या को दिखाना उचित नहीं प्रतीत हुआ उन्हें, अतः इन्दु का एक फोटो पिताजी के पास भेज दिया था। वह फोटो पिताजी की रामायण में से मेरे हाथ लग गया मित्र ! इस अनन्य सुन्दरी इन्दु के साथ सम्बन्ध की कल्पना से ही मैंने अपने आपको भाग्यवान् समझ लिया था। इन्दु भी मेरे ऊपर अनुरक्त प्रतीत होती थी, ऐसा सुन चुका था मैं उसी की एक पड़ोसिन के मुख से, जो प्रायः हमारे यहाँ आया-जाया करती थी। इसी के हाथ मैंने अपना एक फोटो भी इन्दु के पास भिजवा दिया था। इसी के द्वारा मेरे विषय में इन्दु ने और भी बहुत कुछ सुन रखा था। जो कुछ भी हो, वह सहमत थी।

किन्तु मित्र ! हमारी साध पूरी न हो सकी—मन की मन में ही रह गई। दुर्दान्तदैव हम दोनों को एक सूत्र में बँधा हुआ देखने को तैय्यार न था। इन्दु के पिता जिस काम को अपने जीवन में पूरा करना चाहते थे—न कर सके। सर्वोच्चाधिकारी के यहाँ से बुलावा आया और उन्हें यहाँ का सब कुछ यथावस्थित

छोड़ कर चला जाना पड़ा। विवश थे बेचारे। इन्दु के ऊपर से पिता की सुखद छाया उठ गई। अकेली मां रह गई—किन्तु क्या कर सकती थी—वह—असहाय ! जमीन-जायदाद, घर-घूरा, धन-सम्पत्ति और इसके साथ-साथ इन्दु के विवाह का प्रस्ताव आदि सभी कुछ तो चला गया—देवर-जेठों के हाथ में। अधिक व्यय की आशंका से या कुछ आमद के लोभ से उन्होंने इन्दु का सम्बन्ध पास के ही गाँव में किसी जमींदार के विधुर लड़के के साथ निश्चित कर दिया। इन्दु की माँ को आश्वासन दिया "अच्छा घर है, सुन्दर लड़का है, इन्दु सुख से रह सकेगी वहाँ।" विवाह के दिन सबने देखा, "लगभग छत्तीस वर्षीय एक युवक' जो अपनी वासना की वेदी पर दो बलि-पशुओं को सशरीर चढ़ा चुका था, अब किसी तीसरे की मनोरम अनुभूतियों की, मधुरतम भावनाओं की और कोमल एवं नन्हे-से हृदय की बलि देने के लिये विवाह का ढोंग रच कर बलि-पशु पकड़ने के लिये आया। इसी नरभक्षी राक्षस के दुपट्टे के छोर से इन्दु की चूँदरी का छोर कस कर बांध दिया गया। बेचारी इन्दु घिसटती हुई चली गई उसके पीछे-पीछे।"

खैर, मित्र ! जाने भी दो इन बीती बातों को। अब इनके दुहराने से होता ही क्या है ? हाँ, तो मेरा विश्वास है कि तुम अब मेरे और इन्दु के सम्बन्ध से भली भांति परिचित हो चुके होगे। उसके सम्बन्ध में और अधिक लिखना अनावश्यकीय है। अभीष्ट विषय तो अब केवल इन्दु से मिलना था; अतः उसी के सम्बन्ध में अब तुम्हें दो-चार शब्द और लिखूँगा। तो फिर, घर तक जाने के लिये तो मुझे सोना का निमन्त्रण मिल ही चुका था; और इन्दु से साक्षात् करने के लिये श्रीमतीजी ने अनुमति

दे रखी थी, अतः कोई बाधा नहीं थी। अब रही 'किसी' के हृदय-मंदिर में प्रवेश करने की बात, किन्तु उसके लिये मुझे कोई विशेष चिन्ता नहीं थी। मुझे विश्वास था कि इन्दु इस विषय में मेरे प्रति अनुदार न होगी। निदान, जैसे ही इतवार आया, मैंने घर चलने की तैय्यारी प्रारम्भ की। अपने पहिनने के कुछ कपड़े, श्रीमतीजी की अपेक्षित वस्तुयें यथा सुर्खी, सिंदरफ, सेण्डिल आदि तथा प्रथम-मिलन के अवसर पर इन्दु को प्रदान करने योग्य कुछ उपहार आदि सब कुछ एक अटैची में सँभाल कर रखा। हाल ही सिल कर आया हुआ सिल्किन सूट निकालकर पहिना, सुरभित-सेन्ट से सम्यक्-सुवासित रूमाल जेब में रखा और 'वेस्ट एन्ड वाच' की गोल्डन घड़ी कलाई पर बाँधली। बालों में कंघा किया, मुँहपर थोड़ी-बहुत मात्रा में क्रीम पोती और तब आदम कद वाले शीशे में ऊपर से नीचे तक अपना प्रतिबिम्ब देखा। पाया, "मैं और मेरी वेष-भूषा इन्दु से मिलने के लिये सर्वथा उपयुक्त है। सम्भवतः मैं उसके लिये आकर्षक सिद्ध हूँगा।" मित्र! इस प्रकार की कल्पना के उठते ही एक हलकी सी मुस्कान मेरे अधरों पर नाच गई। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानों इन्दु अनुराग भरे नेत्रों से मेरी ओर एक टक देख रही है। हर्षातिरेक में मैं उछल पड़ा। कमरे का दरवाजा बन्द कर नीचे आया, साइकल उठाई; अटैची-केस कैरियर पर रखा और तब चलपड़ा सामने वाली सड़क पर।

तो, मित्र! आज मैं अपनी इन्दु से—उस इन्दु से, जिसके लिये चिरकाल से प्रतीक्षा कर रहा था, मिलने जा रहा था। बड़ा उल्लसित था मैं आज। उल्लास के उद्रेक में मैं अपना सब कुछ भूल चुका था। होस्टल, कालेज, शहर, किला, ताजमहल आदि सबके साथ-ही साथ अकबर, शाहजहाँ, इतिहास, परीक्षा आदि

सभी पीछे—बहुत पीछे छूटे जा रहे थे। मुझे तो केवल जाना था और इसीलिये चला जा रहा था, पैडल-पर-पैडल मारता हुआ आगे–बहुत आगे। साइकिल भी दौड़ी चली जा रही थी एकदम तेज-बहुत तेज। नेत्र, दूर–बहुत दूर दिगन्त में अपने परिचित आवास को ढूँढ निकालने का असफल प्रयत्न कर रहे थे। इधर मन महोदय, 'किसी' के हृदय मन्दिर के भीतर--बहुत भीतर अधिष्ठित भी हो चुके थे। मधुर-मिलन के न जाने कितने काल्पनिक चित्र अङ्कित हो चुके थे—मेरे मानस-पट पर। आशा के विस्तृत आकाश में अपने कल्पित वायुयान पर बैठा हुआ मैं अपने कल्पना-लोक की ओर सरपट दौड़ा चला जा रहा था। मेरी साइकिल ने दौड़ में इस समय वायुयान को भी मात देदी थी। मुझे अपने आस-पास की कोई सुध नहीं थी। न सामने को देखता था और न अपने चारों ओर ही। मैं तो सीधा चला जा रहा था। न जाने कैसे रंगीन चित्र मेरी आँखों में नाच रहे थे। साइकिल भी सड़क पर बिखरी हुई पत्थर की गिट्टियों पर उछलती-नाँचती चली जा रही थी। यहाँ, इस स्थान पर सड़क बहुत खराब आगई थी जगह-जगह पर गड्ढे हो रहे थे, जिनके किनारों पर निकली हुई गिट्टियों की नोकें चमक रहीं थीं। एकाएक साइकिल गड्ढे में जाती, एक दचका लगता और सीट मुझे एक बालिश्त ऊपर उछाल देती। इन गड्ढों के द्वारा सड़क ने मेरे मार्ग में बाधा अवश्य डालदी थी, मानो मुझे आगे बढ़ने देना ही नहीं चाहती—मानों मुझे चेतावनी देती कि तुम मेरी उपेक्षा कर मुझे पीछे छोड़े जा रहे हो, किन्तु ध्यान रखना, मैं किसी भी समय तुमको आगे बढ़ने से रोक सकती हूँ। मैं उसकी इस चेतावनी पर कोई ध्यान न देता हुआ चला जा रहा था आगेकी ओर। साइकिल भी गड्ढों की उपेक्षा करती हुई निरन्तर बढ़ी

चली जा रही थी। न जाने कितने गड्ढे वह पार कर चुकी थी अबतक और न जाने कितने अभी और पार करने थे उसे। इस समय भी वह न जाने कौनसे गड्ढे को पार कर रही थी, कि सहसा, रिवाल्वर के चलने जैसा, बैलून के फूटने जैसा और या यों कहिये कि किसी के अच्छे से गालपर जोर का तमाचा पड़ने जैसा फटाके का शब्द हुआ और साथ-ही-साथ साइकिल ने भी आगे बढ़ने से इनकार कर दिया। मन-महोदय ने कानों से पूछा, "कहो भाई ! क्या हुआ !" कानों ने जाँच पड़ताल करने के लिये नेत्रों से अपील की। नेत्रों ने सम्यक निरीक्षण कर श्रीमती जिह्वादेवी से निवेदन किया कि कह दो क्या हुआ। बेचारी जिह्वादेवी को ही अन्त में लिटपिटाते हुए यह अशुभ सन्देश मन-महोदय को सुनाना पड़ा—बोलीं,—"हुजूर ! हुआ क्या ? वही हुआ, जो होना था। जिसके बलपर आप उछलते हुए हिचकोले खाते-खाते चले जा रहे थे वही पिचक कर जमीन से जा लगी अर्थात् बर्स्ट हो गया।" मेरे मित्र ! अब क्या था ? मेरी समस्त आशाओं पर पानी फिरता हुआ-सा प्रतीत हुआ। मैंने स्पष्ट छाया जैसे रूप में देखा; मानों, इन्दु मेरे सामने ही थोड़ी सी दूर पर सड़क को काटकर जाने वाले मार्ग पर जा रही है। अभी-अभी तो वह सड़क पर आई है; अभी-अभी पार किये लेती है और अभी-अभी, थोड़ी ही देर में सड़क को पार कर चली जायगी, दूर--बहुत दूर। और मैं यहाँ इस ढचर को लिये बैठाहूँ—दौड़कर उसे रोक भी नहीं सकता। आह ! कैसी विवशता है।

मित्र ! अब मैं क्या करता ? सब तरह से असमर्थ और असहाय जो था। बुद्धि भूत में चली गई, धैर्य धरातल में समा गया, आशा आकाश में उड़गई। सब तरह से अकेला केवल मैं

ही एक रह गया। करता क्या! ग्यारह बज चुके थे और अभी चौदह मील का रास्ता और तय करना था। चिल-चिलाती धूप पड़ रही थी मानों मुझे सुखा ही देगी। पवनदेव भी मुझे देखकर किनारा कर गये थे, मानों कह रहे थे,—"तुम भाग्यहीन हो, अतः हम तुम्हारा स्पर्श भी नहीं करना चाहते।" प्रातःकाल इन्दु से मिलने के उत्साह में मैंने क्षुधा एवं तृषा-दोनों देवियों की ही उपेक्षा करदी थी। इस समय अपना बदला लेने का उपयुक्त अवसर जान; दोनों ने मेरे ऊपर संयुक्त आक्रमण कर दिया! मैं छट-पटाने लगा। समीप में कोई कस्बा, गाँव, झोंपड़ी, प्याऊ आदि कुछ भी तो नहीं थी। यहाँ से आठ मील की दूरी पर एक छोटा सा कस्बा था जो कि सड़क पर चलने वाले मोटर, ताँगा, साइकिल, पैदल आदि का स्टैण्ड था। वहाँ पहुँचने पर अवश्य कुछ जलपान आदि हो सकता था, किंतु वहाँतक पहुँचनातो वैकुण्ठतक पहुँचना था। किन्तु और कोई चारा भी तो नहीं था जिससे पेट भरा जा सके। निदान, इसी दहकती धूप में अपनी सहधर्मिणी या सहगामिनी साइकिल महारानी को साथ में लेकर पैदल ही चलना पड़ा। एक तो साइकिल महारानी का साधना और उस पर भी उनकी सखी श्रीमती अटैची देवी का बोझ—बड़ी अखर रहीं थीं ये दोनों मुझे। अस्तु, किसी प्रकार मरता—गिरता दो बजे तक उस कस्बे में लगा। सर्व-प्रथम भूख और प्यास को कुछ दे-दिवाकर विदा किया। फिर साइकिल महारानी को एक 'डनलप-ट्यूब' का सुन्दर-सा हार पहिनाया और मार्ग देवता की आराधना कर पुनः आगे को चल पड़ा। अब मित्र! मुझे यहाँ से सिर्फ छः मील और चलना था। दिन छिपने में अभी तीन घंटे थे। साइकिल तो मैंने ठीक करवा ही ली थी और इधर मैं भी सब तरह से ठीक ही हो चुका था। उस अभागी सड़क से भी छुटकारा मिल चुका

था मुझे, अतः कहना पड़ेगा कि चलना अब मेरे लिये सुविधा-जनक हो गया था। किन्तु मित्र! एक कठिनाई, और वह भी सबसे बड़ी, जिस पर मैंने अभी तक ध्यान ही नहीं दिया था, यह थी कि मार्ग कच्चा था। एक-एक फीट ऊँची रेत की तह जम रही थी उसमें। साइकिल के पहिये धँसने लगते उस रेत में। बेचारे किसी प्रकार साँस रोक कर कहते, "महाशय! जरा उतर पड़िये ऊपर से, अन्यथा हम तो चले रसातल की ओर।" और तब विवश होकर मुझे उतरना ही पड़ता। निदान, इसी प्रकार उतरता-चढ़ता मैं गाँव के समीप तक आ पहुँचा। जैसे ही मैंने गाँव की ओर दृष्टि डाली, वैसे ही श्रीमती आशादेवी मेरे स्वागत के लिए आ उपस्थित हुईं। वे, सम्भवतः कहना चाहतीं थीं, "चलिये इन्दु आपकी प्रतीक्षा में है।" किन्तु इसी बीच न जाने कहां से आशङ्का पिशाचिनी आ धमकी। उसने आशा को झिड़कते हुए कहा, "चल, चुड़ैल! अब क्या तू यहाँ खाक बटोरने आई है। दोपहर के बारह बजे का समय दिया था, आप पहुँचे हैं शाम के पाँच बजे।" और उसी समय, मित्र! मैंने स्पष्ट देखा, "सामने से कोई व्यक्ति आ रहा था—नहीं-नहीं, आरही थी, इसी पगडंडी पर।" अपने सौन्दर्य-सूर्य के प्रखर-प्रभा-पुञ्जसे दिगन्त को प्रकाशित करती चली आ रही थी वह। पीत-परिधान-परिवेष्टित उसकी गात्र-यष्टि बड़ी ही मनोरम प्रतीत होती थी। नीचे को सिर किये कुछ सोचती सी आरही थी वह। उसके साथ एक और कोई उसकी सहेली जैसी थी। मैंने स्थिर किया, "यह और कोई नहीं, इन्दु ही है। मेरे आने में अधिक विलम्ब होने के कारण अधिक न ठहर सकी—अब लौटी जा रही है।" तो क्या फिर जैसा तुलसीदास के साथ हुआ था, वही मेरे भी साथ होगा? अर्थात् जैसे राम तो तुलसीदास को दर्शन देने आये और

वे चन्दन ही घिसते रहे। राम चले गये उन से बिना मिले ही। क्या इसी प्रकार इन्दु भी मुझसे बिना मिलेही चली जायगी? नहीं, ऐसा नहीं हो सकता। मैं इससे अवश्य मिलूँगा। अब तक मित्र! वह मेरी साइकिल के बिलकुल समीप ही आचुकी थी, किन्तु उसे इसका कदाचित् भान ही नहीं था। मैंने उतर कर, साइकिल को तिरछी खड़ी कर, रास्ते को रोकते हुए उसके मुख की ओर एकटक देखा। युवती, इस प्रकार अपने मार्ग को रोक कर अपनी ओर एकटक आँखें फाड़—फाड़ कर देखने वाले अपरिचित युवक को देखकर सहम गई। वह कुछ कहना ही चाहती थी, कि मैंने कोमल अथच स्नेह भरे स्वर में उससे पूछा:—

"क्या, क्या आप बता सकती हैं कि आप कहाँ रहती हैं?

दूसरी युवती, जो अबतक पीछे खड़ी हुई मेरी ओर घूर-घूर कर देख रही थी, अब आगे बढ़ आई और तमक कर बोली,—

'क्यों क्या करना है आपको? दुनियाँ भर का नाम पता लिखते फिरते हैं क्या आप?"

"दुनियाँ भर का तो नहीं, किन्तु अपने प्रेमियों का नाम पता अवश्य लिखता फिरता हूँ।" मैंने मन ही मन कह कर प्रगट में उत्तर दिया "मेरा खयाल था कि आपका गाँव वीरपुर है।"

यह सुनते ही प्रथमा के मुखपर लज्जा सी दौड़गई—रहस्य, भय एवं विस्मय की रेखा सी खिच गई। उसने अपने मुखके भाव को छिपाते हुए कहा:—

"वीरपुर, नहीं, वीरपुर से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। हमने उसका नाम भी नहीं सुना।"

"खैर" मैंने झेंपते हुए कहा, "मेरा खयाल था कि आपकी ससुराल......" और आगे कह भी न पाया था कि द्वितीया ने

बीच में ही रोक कर कहा —

"क्षमा कीजिये। अब अधिक.......आप अपनी साइकिल को हटा कर रास्ते में से एक ओर हट जाइये, अन्यथा....। शर्म नहीं आती तुम्हें इस प्रकार भले घर की बहू बेटियों से प्रश्नोत्तर करते ?" क्रोध से भड़क उठी थीं वे।

मैंने मन-ही-मन कहा, "ठीक ही कहती हैं वह। मुझे यह सब उनसे पूछने का अधिकार ही क्या है !" और फिर साइकिल खींच कर एक ओर करली। वे दोनों चुपचाप खट-खट करती हुई चली गईं आगे को। कुछ देर बाद मैंने अपने नेत्र उठा कर देखा, प्रथमा ने एक बार मुड़कर मेरी ओर देखा" और उसी समय द्वितीया के मुख से कुछ अस्पष्ट-सा स्वर सुनाई पड़ा, "छिनरा कहीं का।"

कुछ समय तक, मित्र ! मैं वहीं निश्चल खड़ा रहा—एक सिरे से दूसरे तक पुनः इस घटना को देख गया। फिर मन-ही-मन कहा,—"नहीं, यह इन्दु नहीं हो सकती। यदि वह होती तो अवश्य मुझे पहिचान नेका प्रयत्न करती।' और तभी मेरे सूखे-से होठों पर पुनः एक मुस्कान दौड़ गई। मैंने साइकिल उठाई और शीघ्रता पूर्वक घर की ओर चल पड़ा। जैसे ही घर पहुँचा, पत्नी ने एकाएक कहा, "अब आ पहुँचे हैं आप ! आज इतनी देर कैसे हो गई ? बेचारी इन्दु तुम्हारी प्रतीक्षा करते-करते हार कर अब गई है।"

"तो क्या इन्दु यहाँ से अभी गई है ?" जिज्ञासा भरी दृष्टि से पत्नी की ओर देखते हुए मैंने पूछा।

'हाँ, अभी तो गई है बेचारी, शायद तुम्हें रास्ते में मिली भी हो। उस की ननद उसके साथ आई थी; नहीं रुकने दिया उसे उसने। जबर्दस्ती लिवा ले गई, मैंने तो बहुत मना..."

वह तो और भी न जाने क्या-क्या कहती रहीं, किन्तु मित्र ! मैं उसे सुन न सका। यहाँ तो मेरा हृदय इन्दु का पीछा करने के लिये व्यग्र हो रहा था। वह वक्ष को फाड़कर निकल जाने के प्रयत्न में था। मैंने दोनों हाथों से पकड़ कर उसे दबा दिया। इन्दु !...! किन्तु इन्दु अब तक न जाने कहाँ पहुँच चुकी होगी ?"

मित्र ! क्या तुम अनुमान लगा सकते हो कि मुझे उस समय कितना दुःख हुआ होगा ? अस्तु......

किसी की स्मृति में अपनी स्मृति को खोकर बैठा हुआ—

तुम्हारा

'सतीश'

—×—

(२)

कालेज होस्टल

दिनाङ्क,१० अगस्त १६५५

दुःखी जीवन के आधार !

कई बार सोचा है, तुम्हें पत्र न लिखूँ, क्यों कि मेरे व्यर्थ-के-से पत्रों के पढ़ने में तुम्हारे बहुमूल्य समय का बहुत कुछ अंश व्यर्थ ही नष्ट होता होगा। किन्तु जब, मानव-हृदय के करुण उद्गार हृदय से निकलने के लिये उमगते हैं, तब उन्हें कागज पर लिख कर, जब मैं 'लैटर-बक्स' में छोड़ देता हूँ तो हृदय को एक प्रकार का सन्तोष होता है कि चलो, कोई हमारे प्रति सहानुभूति तो प्रगट करेगा ही। बस, इसीलिये मैं तुम्हारे लिये पत्र लिखता हूं।

हाँ, तो उस दिन का पत्रतो तुम्हें मिल ही चुका होगा। वह मैंने घर से लिखा था। उसके पश्चात् मैं अधिक दिन गाँव में

न ठहर सका। दूसरे ही दिन यहाँ चला आया। यहाँ आकर मुझे शान्ति मिली। गांव में जो विकलता बढ़ती जा रही थी, वह यहाँ आकर नष्ट प्राय: हो गई। माना, यहाँ पर इन्दु नहीं है, किन्तु इससे क्या? एकान्त तो है, नीरवता और निष्यन्दता तो है! इसी एकान्त के कोने में मुझे इन्दु की सुरम्य आकृति दृष्टि गोचर होती है, इसी नीरवता में उसकी स्वर लहरी रमी हुई-सी प्रतीत होती है, तथा इसी निष्यन्दता में उसके हृदय का प्रत्येक स्पन्दन स्पष्ट सुनाई पड़ता है। मित्र! मैं नहीं समझ पा रहा हूँ कि ऐसा क्यों हो रहा है। मेरा हृदय इन्दु के बिना सूना-सूना-सा प्रतीत होता है। वह उससे मिलने के लिये छटपटाता है। 'मेरे हृदय में इन्दु के प्रति अनुराग का अङ्कुर जम गया है,' ऐसा तो प्रतीत नहीं होता। मैंने स्वयं कईबार अपने हृदय से भी पूछा है, "मेरे अभिन्न, हृदय! क्या तुम इन्दु को प्रेम करते हो?" "नहीं तो", किसी करुण-कण्ठ से उत्तर मिलता है। मैं फिर पूछता हूँ,—"तब फिर तुम क्यों उसके लिये इतने आतुर रहते हो?"

'न जाने क्यों?" उसी स्वर में फिर उत्तर मिलता है। तब फिर, मित्र! यह क्या बात है? मैं नहीं समझ पाता। बहुत कुछ सोच बिचार कर एक हल निकाल पाया हूँ, "चित्त की इस विकलता का कारण अभाव है—और वह अभाव-इन्दु का अभाव है। इस अभाव की पूर्ति होते ही सब व्यग्रता, आतुरता और विकलता समूल नष्ट हो सकती है।" तब, क्या इस अभाव की पूर्ति कभी हो सकेगी, और यदि 'हाँ' तो क्या इसी जन्म में? "असम्भव"। शून्य में तिरोहित हो कर कोई उत्तर देता। मेरे हृदय को चोट-सी लगती। मैं फिर पूछता, "इस जन्म में नहीं तो फिर कभी तो पूर्ति हो सकेगी—किसी दूसरे जन्म में, तीसरे में,

चौथे में; पाँचवे में, और या फिर कभी नहीं ?"

"सम्भव है, दूसरे में"। वहीं से फिर उत्तर मिलता।

मित्र ! मैं तब सोचता, "तो फिर इस अभाव की पूर्ति के लिये इन्दु की प्राप्ति के लिये—मैं मर जाऊँ—दूसरा जन्म धारण करूँ। तब तो सम्भव है मैं उसे अवश्य प्राप्त कर सकूँगा।"

"असम्भव।" कोई मेरे हृदय के भीतर से कहता, 'तुम मर जाओगे तो क्या हुआ, इन्दु तो नहीं मर जायगी। वह तो यहीं रहेगी। तुम मर कर भी अकेले ही रहोगे दूर-उससे बहुत दूर ।।'

मैं तब निराश हो जाता। फिर कुछ देर बाद स्थिर करता, "जाने दो, और कुछ समय इसी तरह बिताओ, फिर हम और इन्दु दोनों साथ-ही-साथ मरेंगे, साथ-ही-साथ जन्म लेंगे, साथ-ही-साथ बड़े होंगे, साथ-ही-साथ एक दूसरे को प्रेम करेंगे, और साथ-ही-साथ विवाह करेंगे। वह मेरी होगी और मैं उसका। तब तो इस अभाव की पूर्ति होगी, या फिर तब भी नहीं ?

"अवश्य" ऊपर वाला 'कोई' कहता। और तभी भीतर वाला भी 'कोई' कह देता, "अवश्य।"

और तब, मित्र ! इस प्रकार की कल्पना करते ही मैं प्रमुदित हो जाता।

मित्र ! जिस स्थिति में मेरा और इन्दु का साक्षात् हुआ था उस स्थिति में कोई भी भला-मानुष अपने को एक-दूसरे के प्रेम को पाने का अधिकारी नहीं कह सकता, किन्तु मुझे तो फिर भी ऐसा प्रतीत होता है कि इन्दु ने मानो मेरे ऊपर कोई जादू या टोना कर दिया है, जिससे मैं उसका वश-वर्ती बन गया हूँ। चलते समय उसने मुड़कर जिस दृष्टि से मुझे देखा था, भले ही उसमें माधुर्य न उड़ेला गया हो—भले ही उसमें अनुराग के छींटे

न दिये गये हों, किन्तु, मित्र ! मुझे तो ऐसा प्रतीत होता है कि उसमें 'कुछ' था अवश्य और वह 'कुछ' कुछ अर्थ अवश्य रखता था। उस दिन के उस असङ्गत वार्तालाप में उस बेचारी का कुछ भी दोष नहीं था। उसने तो मुझसे एक शब्द भी नहीं कहा था। केवल देखती ही रही थी एकटक-मेरी ओर। किन्तु उसकी ननद—वह तो बिजली थी—कड़क उठी। इन्दु, बेचारी क्या कर सकती थी उसमें ?

किन्तु, मित्र ! कभी-कभी इन्दु के प्रति भी मेरे हृदय में घृणा भर आती है। उस दिन, मेरा इस प्रकार का अपमान कराने का कारण वही बनी। क्या वह मुझे पहिचान न सकी थी ? नहीं, उसने मुझे अवश्य पहिचान लिया होगा। जब मैंने उसे इतनी दूर से पहिचान लिया था तो क्या इतने निकट आने पर भी वह मुझे न पहिचान सकी होगी ! और फिर मैंने तो उसके गाँव का नाम भी लिया था, जिसके विषय में वह साफ मुकर गई—कह दिया--कि हमने तो उसका नाम भी नहीं सुना। उसने मुझे अवश्य पहिचाना होगा और यदि पहिचान लिया था तो फिर यदि वह अपनी ननद से कह देती कि "वे मेरे जीजाजी हैं" तो उसका क्या बिगड़ जाता ? किन्तु कहाँ, उसे तो खड़े होकर मेरा अपमान जो कराना था। वह मेरे समक्ष आई और हृदय में एक प्रकार की टीस उत्पन्न कर चली गई। उसने मुझे जलाना चाहा है। किन्तु, मित्र ! मैं भी कुछ कम नहीं हूँ। प्रतिशोध की भावना मेरे हृदय में जम चुकी है। मैं उससे बदला लूँगा अवश्य लूँगा।

हाँ, तो मित्र ! मैंने अपना कर्तव्य निश्चित कर लिया है। यहाँ, कालेज के सहपाठी मेरे एक मित्र हैं। दूर के रिश्ते में इन्दु उनकी भाभी होती है। उन्होंने मुझसे अनुरोध किया है कि इस

बार छुट्टियों में जब घर चलेंगे तब इन्दु के यहाँ होकर ही निकल चलेंगे। उन्होंने मुझे बुलाया है, मैंने भी उनसे इस शर्त पर कि "वह तुम्हारी तो भाभी हैं और उन्होने तुम्हें बुलाया है, अतः तुम जा सकते हो, किन्तु मैं तभी चल सकता हूँ जब कि तुम वहाँ जाकर मेरा परिचय न दो और न रात को ठहरने का अनुरोध ही करो", चलना स्वीकार कर लिया है। वे भी मेरी इस बात से सहमत हैं। अतः हमलोग दशहरे की छुट्टियों में उधर जा रहे हैं। सम्भव है, इन्दु तो मुझे पहिचान ही लेगी। अस्तु......

तुम्हारा अनन्य –

सतीश

(३)

कालेज होस्टल

दिनाङ्क ४ सितम्बर १९५५

मन-मानस के राजहंस !

प्रारम्भ में ही इतनी अनुनय और विनय इसलिये है कि तुम मेरे इस पत्र को भी और पत्रों की भाँति धैर्य पूर्वक पढ़ डालो। बस, इस पत्र के उपरान्त और अधिक पत्र तुम्हारे समय को नष्ट करने के लिये मेरी ओर से न लिखे जावेंगे। इस मेरे अन्तिम पत्र में मेरे दुःखमय जीवन का तो नहीं, किन्तु दुःखान्त कथानक का तो अवश्य ही अन्त हो जायगा।

हाँ, तो कल ही घर से एक लिफाफा मिला है। एक आल पिन से संलग्न दो पत्र रखे हुए थे उसमें। ऊपर वाला पत्र श्रीमती जी का है। वही अपनी पूर्वाभ्यस्त पङ्क्तियों के पश्चात् लिखा है, उन्होंने:—

"तुम बड़े निष्ठुर हो। बेचारी छुई-मुई-सी नारी की

मृदुल भावनाओं की निर्मम हत्या करते तुमको किञ्चित् भी सङ्कोच नहीं होता! इन्दु ने तुम्हारा ऐसा कौनसा गुरुत्तम अपराध किया है जो तुम उसे इस प्रकार दण्ड दे रहे हो? वह बेचारी तो सदा से तुमको ही चाहती रही है। तुम्हारे प्रति उसके हृदय में श्रद्धा है, प्रेम है! मुझसे तो उसने कई बार यही कहा है, "राजीदीदी! वे मेरे हृदय-मन्दिर के अनर्चित देवता हैं और मैं उनकी सेवा से विमुख परिचारिका हूँ। अपने अनुराग-रसामृत से उनका अभिषेक नहीं कर सकती, चिरकाल से चुन-चुन कर एकत्र किये गये प्रणय-प्रसूनों को अर्पण न कर सकती उनके श्री चरणों पर। विवश हूं मैं। अपनी इच्छा से हिल डुल भी नहीं सकती। किन्तु इससे क्या? मैं तो उनकी प्रतिमा को अपने हृदय-मन्दिर के सिंहासन पर अधिष्ठित देखना चाहती हूँ। मैं उनकी सेवा न कर सकूँगी, उनके सायुज्य-सुख का अनुभव न कर सकूँगी तो न सही, किन्तु उनके श्रीमुख के दर्शन तो करती ही रहूँगी।" देखा तुमने, एक यह इन्दु है—और एक तुम हो। यह परवश होते हुए भी तुम पर अपना सर्वस्व न्यौछावर करने को उत्सुक है और तुम हो, जो उसे दूर से ही दुतकार रहे हो, कह रहे हो, "वहीं खड़ी रहो। मेरी ओर बढ़ने की चेष्टा मत करो।" तुम ने उस बेचारी के नन्हे-से हृदय को कैसी सांघातिक चोट पहुँचाई है, जान सकते हो तुम? नहीं, तुम नहीं जान सकते। जानने के लिये हृदय चाहिये और वह तुम्हारे पास है कहाँ? तुम्हारे पास तो पत्थर है। उसकी अन्तर्वेदना का वर्णन मैं और अधिक नहीं कर सकती। उसने मुझे एक पत्र लिखा है, उसे तुम्हारे पास भेज रही हूँ। तुम्हीं पढ़कर देख लेना।"

मित्र! यह दूसरा पत्र इन्दु का है। उसके हृदय की मूक वेदना यहाँ आकर मुखरित हो उठती है। इसमें, उसकी अन्तर्म-

नोव्यथा का मूर्त चित्रण हो रहा है। मैंने एक, दो, तीन करके कई बार उसे पढ़ने की चेष्टा की किन्तु पूरा नहीं पढ़ पाता। एक अस्पष्ट-सी म्लान-मूर्ति व्यवधा बन कर परेशानियों के समक्ष आ खड़ी होती है। पत्र; उसके पीछे छिप जाता है।...तो मित्र! तुम मेरी निज की वेदना से तो कभी के परिचित हो चुके हो, किन्तु इन्दु की वेदना की तो छाया भी तुमको न दीख पड़ी होगी। खैर, मैं उस वेदना से तुमको परिचित कराने के लिये इन्दु के पत्र की एक प्रतिलिपि किये देता हूँ। तुम पढ़ कर समझ लेना। उसका पत्र इस प्रकार है:—

रामनिवास,
ता० २१ अगस्त १६५५

प्रचुरस्नेह-मयी राजी दीदी!

वेदना, जो अब तक अन्तर्मुखी बन कर हृदय के भीतर-ही-भीतर बढ़ रही थी वह अब पर्याप्त बढ़ चुकी है। छोटे-से हृदय में अपने लिये पर्याप्त स्थान पा सकने के कारण अब बहिर्मुखी बन कर फूट-पड़ना चाहती है वह। जिन आसुओं को मैं अब तक निरन्तर पीती आ रही थी, आज वे प्रबल वेग से उमड़ पड़े है। अब उन्हें पीने में मैं सर्वथा असमर्थ हूँ। यह व्यथा ही केवल उनकी स्मृति का प्रतीक है, अतः सोचा था, इसे अपने हृदय में ही सहेज कर रखूँगी। बहुत दिनों से यह वहां छिपी पड़ी थी। समय ने अपना आवरण डाल दिया था उस पर। किन्तु, बहिन! कल की घटना ने उस आवरण को फाड़ डाला।

मैंने समझा था, उनकी निशानी है—सुख देगी, आज वह भी फूट पड़ी। भला, दहकते हुए दारुण अँगारों में भी शीतल चन्दन की कल्पना की जा सकती है कभी? शरीर को झुलसाने के सिवाय, यह व्यथा क्या पुलकोद्गम भी कर सकती है वहीं!

बहिन ! अब और अधिक छिपाकर इस व्यथा को मैं अपने में नहीं रख सकती। किन्तु, फिर किसे सुनाऊँ मैं अपनी व्यथा ? अपने दुःख की धारा को कौन से समुद्र में मिला दूँ ? एक तुम ही इतना गम्भीर समुद्र प्रतीत होती हो, जिसमें जाकर यह धारा समा सके, अतः तुम को ही सुनाऊँगी और फिर तुमसे कहने का ही तो मुझे अधिकार है, क्यों कि तुम मेरी बहिन हो, मेरी हो, मेरी प्रति-मूर्ति हो। हम तुम दोनो एक ही देव की उपासिका हैं। अन्तर केवल इतना ही है कि तुम लक्ष्मी हो और मैं मीरा। तुम उनके सान्निध्य में रह कर उनकी सेवा अर्चना कर रही हो और मैं जन्मान्तर में उनकी प्राप्ति के लिये तपस्या कर रही हूँ। अच्छा, तो फिर अब तुम्ही सुनो,—

'एक दिन बाहर वाले चबूतरे पर बैठी हुई मैं अपने तकिये का गिलाफ काढ़ रही थी। ननद ने भी अपना स्वेटर ले रखा था बुनने के लिये। सासूजी पास में ही बैठी हुईं सुखसागर पढ़ रहीं थीं। और भी दो-चार पड़ोसिन उनके पास बैठी हुईं सुख-सागर सुन रहीं थीं। सुखसागर के बीच में कभी-कभी कुछ घर-गृहस्थी के भी प्रसङ्ग छिड़ जाया करते थे, जिनका बेचारे भगवान और उनकी कथा से कथंचित् कोई न कोई सम्बन्ध तो होता था। मैं और मेरी ननद, दोनों ही उनके इस ढंग पर कभी-कभी कटाक्ष कर लिया करतीं थीं। दोपहर के बाद का समय प्रायः नित्य ही इसी प्रकार बीता करता था—अब भी उसी प्रकार बीत रहा था। सहसा, उसी समय दो व्यक्ति हाथों में साइकल थामे हुए दर-वाजे पर आकर रुके। साइकलें दीवार के सहारे खड़ी करके उन्होंने सासूजी के चरणों में प्रणाम किया और सामने पासही बिछी हुई चारपाई पर बैठ गये। सासुजी ने लम्बे-चौड़े आशी-र्वाद देने के पश्चात् एक की ओर मुखाङ्कित होकर पूछा,—

"कहो बेटा! अच्छे तो हो? आज तो बड़े दिनों में आये तुम! मैं तो बहुत दिनों से सोचा करती थी कि न जाने तुम क्यों नहीं आते।" और फिर दूसरे की ओर देख कर बोलीं.—

"बेटा! मैं इनको नहीं पहिचान सकी। ये भी तुम्हारे साथ ही रहते हैं?

"हां, बूआजी।" एक ने उत्तर दिया, "ये मेरे मित्र हैं। हम दोनों साथ-ही-साथ कोलेज में पढ़ते हैं। दशहरे की छुट्टियों में घर जा रहे थे, सोचा--चलो, आपके यहाँ भी होते चलें।"

"बड़ा अच्छा किया तुमने बेटा! तुम दोनों को देख कर आत्मा तृप्त हो गई।" सासूजी ने प्रसन्नता प्रगट करते हुए कहा।

मैं तो इन दोनों नवागन्तुकों देखते ही भीतर चली गई थी, जब सुना कि ये लोग आगरे के किसी कालेज में पढ़ते हैं, मुझे भी ख्याल आया कि मेरा भी कोई 'एक' वहीं किसी कालेज में पढ़ता है। तो क्या फिर यह वही है! सम्भव है, मेरी तपस्या मेरे उपास्य को यहाँ तक खींच लाई हो। ऐसा विचार आते ही मैं द्वार के सहारे आ खड़ी हुई और घूँघट में से उस दूसरे को एक टक देखने लगी। नेत्रों को ऐसा प्रतीत हुआ मानों इन्हें कहीं देखा है। मैंने अपने हृदय से पूछा; "क्या तुम इन्हें पहिचानते हो, "उत्तर मिला," इस समय तो स्मरण नहीं आता, किन्तु ऐसा प्रतीत होता है—मानों किसी दूसरे जन्म का इनसे निकट का सम्बन्ध हो। मैंने अनुभव किया, "कुछ भी हो, हैं ये अवश्य मेरे ही।" किन्तु मन के भ्रम निवारणार्थ इनका परिचय तो जानना ही चाहिये। तो फिर, पूछा किस तरह जाय? इसी बीच ननद ने मेरे पास आकर विनोद पूर्ण स्वर में मुझे झकझोरते हुए कहा,—

"अरे, भाभी ! तुम तो यहाँ छिपकर ऐसे आ खड़ी हुई हो मानों तुम्हारे पतिदेव आगये हों। अरी ! यह तुम्हारे पतिदेव नहीं हैं, यह तो हमारे भैय्या हैं—तुम्हारे देवर, और ये दूसरे जो हैं, वे इनके मित्र हैं अर्थात् हमारे भैय्या, अर्थात् तुम्हारे देवर।"

"पति देव मेरे नहीं तो तुम्हारे होंगे !" ननद के विनोद का प्रतीकार किया मैंने। "देखो, भाभी ! तुम मुझे यों ही चाहे जो कुछ मत कह दिया करो। सोचती नहीं, वे मेरे भैय्या हैं।" तुनक कर ननद ने कहा और चलदीं एक ओर।

"भोली, देवरानी !" मैंने हँसते हुए उनका हाथ पकड़ कर रोकते हुए कहाँ कि तुम तो ऐसे हाथ छिटक कर चलदीं जैसे अभी-अभी उनके साथ……"

"देखो भाभी ! तुम फिर भी नहीं मानतीं, बढ़ती ही…"

"सुनो भी तो सही" मैंने उन्हें बीचही में रोक कर कहा, "मैं क्या तुम्हें यों ही किसी ऐरे-गैरे के साथ थोड़े ही भाग जाने दूँगी। हाँ, तो मैं कह रही थी कि तुम जरा, ये जो दूसरे हैं उन से पूछना कि ये कहाँ रहते हैं ?"

"क्यों, वे तुम्हारे कौन होते हैं ? ननद ने उत्सुकता पूर्वक पूछा, मेरा खयाल है किवे तुम्हारे जीजाजी होंगे और या तुम्हारे कोई और……"

"ननदोई होते हैं वे मेरे, समझीं !" उन्हें चिढ़ाकर फिर धीरे से समझाते हुए कहा मैंने, "अरे पहिले उनका नाम-गाँव तो पूछ लेतीं या फिर जाने-बगैर-जाने यों ही मनमाना सम्बन्ध जोड़ रही हो उनसे ?"

"अच्छा, नाराज मत हो, अभी पूछती हूँ" और फिर उनकी ओर मुखकर के ननद ने कहा, "हमारी भाभी पूछ रहीं

हैं कि क्या बता सकते हैं कि आप कहाँ रहते हैं ?"

"क्यों, क्या प्रत्येक व्यक्ति का नाम पता जानना अपेक्षित है, आपकी भाभी जी को ?" मुस्कराते हुए कहा-उन्होंने।

"उनका खयाल था कि आपका गाँव आनन्दपुर है ?" मेरे अनुरोध से पुनः पूछा ननद जी ने।

"आनन्दपुर ! नहीं, आनन्दपुर से हमारा कोई सम्बन्ध नहीं। हमने तो उसका नाम भी नहीं सुना।" सरलता पूर्वक उत्तर दिया उन्होंने।

"उनका खयाल था कि आपकी ससुराल........"

"क्षमा कीजिये" ननद की बात पूरी न होने से पहिले ही वे बोले—"मेरी तो शादी भी नहीं हुई।"

इस पर कुछ क्षुभित सी होती हुई ननद मुझसे बोलीं, "रहने भी दो भाभी ! यह तो किसी बात का ठीक से जवाब भी नहीं देते। अब मैं इनसे और कुछ भी नहीं पूछूँगी। यदि पूछना ही है तो तुम्हीं पूछ लो।"

मेरे बार-बार अनुरोध करने पर उन्हने एक प्रश्न पूछना और स्वीकार किया। बोलीं वे—"तो कम-से-कम इतना तो बता दीजिये कि क्या आनन्दपुर के सतीशबाबू आपके ही साथ पढ़ते हैं ?"

यह सुनते ही वे जोर से हँस पड़े। बहुत देर तक हँस लेने के बाद बोले, "ठीक, अब समझा मैं। तो आपने मुझे सतीश समझा था ? किन्तु गलत खयाल था आपका। खैर, जाने दो। हाँ, तो सतीश हमारे साथ ही पढ़ता है। उसकी भी छुट्टी थी, किन्तु वह इधर आया ही नहीं—सीधा अपने घर चला गया। हमने तो उससे बहुत कहा था कि चल भई, तूभी इधर ही होता निकल जाना, किन्तु वह प्रस्तुत ही नहीं हुआ।

काश, वह हमारे साथ आया होता ! किन्तु, सतीश से तुम्हारा क्या सम्बन्ध है ?" पूछना चाहा उन्होंने ।

"किन्तु उससे क्या ? जब वे आये ही नहीं !" छोटा सा उत्तर देकर ननदजी ने प्रसङ्ग को वहीं समाप्त कर दिया ।

कुछ समय पश्चात् सासूजी उनकी ओर देखकर बोलीं, "तो साईकल वगैरह उठाकर भीतर रख दो, हाथ-मुँह धो डालो और कुछ खा-पी डालो, सवेरे के चले हो ।"

"नहीं बूआजी !" उन्होंने कुछ संकोच-सा प्रगट करते हुए कहा—"खाना तो हम लोग खाकर चले थे । अब मुझे एक बहुत आवश्यक कार्य से घर अभी पहुँचना है, अतः आज्ञा दें । मैं खाने के समय तक न ठहर सकूँगा ।"

"किन्तु बेटा ! बिना कुछ खाये-पिये तो मैं तुम्हें घर से न जाने दूँगी । अच्छा तो थोड़ा सा नाश्ता ही करलो ।" कह कर सासू जी ने मुझे आदेश दिया, "बहू ! इनके लिये थोड़ा सा मीठा-नमकीन ही परोस दो, खाकर चले जायँगे ।"

सासूजी के आदेशानुसार मैंने झट-पट एक थाल में मीठे और नमकीन की तश्तरी रखी, एक कटोरी में चीनी डालकर दही रखा और एक गिलास पानी भर कर रख दिया । थाल के समीप ही एक सुन्दर सा आसन बिछा दिया तथा अपने हाथ का बुना हुआ हाथी घोड़े वाला पंखा वहीं पास में रख दिया । बहिन ! न जाने क्यों, इस अपरिचित व्यक्ति के लिये खाना परोसते समय मुझे एक अपूर्व आनन्द की अनुभूति हो रही थी ! मैं सब कुछ यथा-स्थान पर उपस्थित कर उनके आने की करने लगी । किन्तु, बहिन ! वे भीतर नहीं आये । सासुजी के आग्रह करने पर बोले "बूआजी ! यहीं पर भिजवा दो । थोड़ा सा पानी तो पीना ही है अतः पी लूँगा यहीं ।"

ननद आई और बोली, "भाभी ! वे तो नहीं आते शरम लगती है उन्हें ! वहीं पर दे आऊँ मैं खाने को" और फिर मीठा और नमकीन वाली तश्तरी तथा पानी के गिलास को लेकर चली गई उन्हें देने। बहिन, मेरे हृदय की थाली परोसी ही रह गई। थोड़ा बहुत खा लेने के पश्चात् तश्तरी ननद के हाथ में देते हुए मेरी ओर देखते हुए मुस्करा कर कहा,—"अपनी भाभी से कह देना कि आगरे जाकर एक बार सतीश को अवश्य आपके पास भेज देंगे।" और तब सासुजी के चरणों में सिर नवाकर बोले,"बूआजी ! अब मैं चलता हूँ। फिर कभी सम्भव हो सका तो आपके दर्शन करूँगा।"

"किन्तु बेटा हम लोगों को भूल मत जाना । जब कभी इधर आओ तो यहाँ अवश्य होते जाना।" बाध्य होकर सासुजी ने अनुमति दी।

"अवश्य, बूआजी ! मैं यहाँ अवश्य आऊँगा। भला, कभी आप लोगों को भी भूल सकूँगा ?" सासुजी को सांत्वना देते हुए उन्होंने कहा और तब साइकिल उठाकर चल दिये।

चलते समय, बहिन ! सच कहती हूँ मैं, एकबार मुड़कर उन्होंने मुझे सजल नेत्रों से देखा था। उनकी उस दृष्टि में ऐसा न जाने क्या था कि मैं उससे अभिभूत हुए बिना न रह सकी। उनके मुख पर विवशता की, करुणा की एक अस्पष्ट छाया व्यक्त हो रही थी। मैं उस ओर अधिक न देख सकी—नेत्रों को नीचा कर मुँह फेर लिया मैंने। बहिन ! वे चले गये और उनके जाने के साथ-ही-साथ मुझे ऐसा प्रतीत हुआ मानों मेरे हृदय में से कोई निकलकर चला गया हो—उसके बिना वह सूना हो गया हो।

खैर, बहिन ! उन्हें तो जाना था—चले गये। मेरे हृदय में से भी यदि किसी को जाना था तो चला गया था; किन्तु मैं

कहाँ जाती ? मुझे तो यहाँ—इस घर में-रहना जो था और न जा सकी मैं।

हाँ, तो बहिन! उनके चले जाने के पश्चात् सासुजी ने ननद को तो बारी पर से साग लेने भेज दिया और स्वयं गाय बाँधने तथा चारा-घास डालने खिरका की ओर चली गई मैं और ये नये आये हुए मेरे देवर दोनों ही रह गये वे मेरे कुछ समीप आकर बोले,—

"भाभी! क्या तुम इसे जानती हो?"

"नहीं तो" मैंने सीधा-सा उत्तर देते हुए कहा, "हाँ पहिचानने में भूल अवश्य हो गई।"

"नहीं, भाभी! तुमसे भूल नहीं हुई। तुमने उसे ठीक ही पहिचाना। वह सतीश ही था।" उन्होंने उत्तर दिया।

"सतीश! इतने निष्ठुर! नहीं, यह कभी नहीं हो सकता। ये सतीश नहीं थे। मेरी बहिन तो सदा उन्हें सहृदय, करुण और भावुक बताया करती है। अवश्य यह कोई और ही होंगे।"

"नहीं भाभी! मैं सच कहता हूँ, यह सतीश ही था। यदि तुम्हें विश्वास नहीं होता तो देखो, चलते समय यह पत्र तुम्हारे लिए दे गया था" कहते हुए मोड़ा हुआ कागज मेरे हाथों में दे दिया। मैंने खोलकर पढ़ा,—

'इन्दु!

तुम्हें याद होगा, कि एक दिन एक व्यक्ति साइकिल पर बैठा हुआ आनन्दपुर वाले मार्ग में से जारहा था। तुम्हें सामने से आता देख उतर पड़ा था वह। उसने सम्भावना की थी, आने वाली उसी की कोई होगी। किन्तु, तुमने उसकी सब आशाओं को धूल में मिला दिया। चसक-से कह दिया, "मैं तुम्हारी कोई नहीं।" जानती हो इन्दु! जिस समय उसको मालूम हुआ होगा

कि इस प्रकार उसका तिरस्कार करने वाली और कोई—तुम ही थीं तो उसे कितना दुःख हुआ होगा ? और यदि जानती हो तो समझ लो कि उसके मन में प्रतिशोध की भावना उत्पन्न हो चुकी थी। वह तुमसे बदला लेना चाहता था—तुम्हारा तिरस्कार करना चाहता था, तुम्हें जलाना चाहता था। आज, वह 'यह सब' पूरा कर चुका। तुमसे अच्छी तरह बदला लेकर जा रहा है, अब।

जानती हो, इन्दु, वह व्यक्ति कौन था ? और कोई नहीं, मैं ही हूँ। यह सब जो कुछ हुआ, उसके लिए नाराज होने की कोशिश मत करना, तुम। अस्तु......

किसी समय का तुम्हारा
सतीश

बहिन ! तुम्हीं बताओ कि उन्होंने लिखा है उसके लिए मैं ही दोषी हूँ ? भला, सोचो तो, एक अपरिचित व्यक्ति के साथ, जिसे मैंने कभी नहीं देखा—ननद के सामने मुँह खोलकर बातचीत कर सकती थी ? माना, उनकी बातों से मैंने उन्हें पहिचानने का प्रयत्न किया होगा, किन्तु अनुमान सर्वथा सत्य ही तो नहीं होते; कहीं वह व्यक्ति वे न होकर कोई और निकलता....? किन्तु बहिन वे तो मुझ अबला से बदला लेना चाहते थे। ले चुके वे बदला। उनके मन को सन्तोष हो गया। किन्तु, बहिन ! मेरे मन को......? अब और अधिक नहीं लिख सकती। मेरा हृदय फट जायगा।

तुम्हारी, प्रवञ्चिता
इन्दु

मित्र ! इन्दु से बदला लेकर मैं अपने को कृती समझता हूँ इन्दु के तिरस्कार को अपनी विजय समझता हूँ; किन्तु मित्र

यह विजय मेरी सबसे बड़ी पराजय है। मुझे ऐसा प्रतीत होता है, मानों इन्दु के आँसुओं का प्रबल वेग मेरी ओर तीव्रता से बहता आ रहा है, मानों वह मुझे बहा ले जायगा। मित्र, मेरी रक्षा करो, बचालो मुझे।

किसी की अनुपम अनुभूतियों को कुचलकर अब अनुताप की ज्वाला में जलता हूं।

तुम्हारा, सदा से भाग्यहीन
सतीश

हिचकियाँ

"तो क्या आप भी नैनीताल ही जा रही हैं ? बातचीत के प्रसंग में युवक ने प्रश्न किया !

"जी हाँ ! परन्तु आपको इसमें आश्चर्य क्यों हो रहा है ।"

"युवक मुस्करा उठा ! उसकी मुस्कराहट उसके मुखारविंद पर खेलने लगी उसके दाँत भीतर से चमक उठे ! उसने अनायास ही बर-वस मुझ पर अपनी आँखें जमा दी ।

"मैं बाईस साल का युवक हूं; बनारस विश्वविद्यालय में ६ बर्ष अध्यन किया । इस बीच में करीब ६०० सौ लड़कियों के दर्शन हुए परन्तु आप जैसी निर्भीक और आडम्बर हीन युवती कभी नहीं देखी ! युवक ने कहा !

मैं बातचीत को यथा स्थान छोड़कर; खिड़की से सिर निकाल उस जंगल को मन मोहक सीनरी में अपने हृदय को लगाने लगी कि अचानक एक कोयले का टुकड़ा मेरी आंख में आ गिरा ! लगा कि किसी ने सुई चुभो दी । मैं तिलमिलाने लगी ! आँखें मलती अपने बिस्तरे पर गिर पड़ी; दर्द से बेचैन हो आह ! कह कर तड़फड़ाने लगी ! युवक व्यग्र होकर मेरी

ओर दृष्टि निक्षेप करने लगा ! मैं चिढ़ गई और बोली—

'अजी तुम बड़े निर्दयी हो ! बनारस विश्वविद्यालय में क्या तुमने यही पढ़ा है, कि कोई तड़फड़ाए और तुम दूर से देखते रहो !

"लेकिन आप एक अपरिचित युवती हैं और मैं........

"मैं मैं बकरी की तरह क्या करते हो जी ! जरा देखो न निगोड़ा कोयला किस कोने में गिर पड़ा है । मुझे अपनी आँख खुदवा खुद नहीं दिखाई पड़ती है !

मेरी इस फटकार पर वह बड़ी लजीली चाल से मेरे नजदीक आया और मेरी ठुड्डी ऊंची की ! मेरी आँखों में अपनी आँखें डालकर देखने लगा ! थोड़ी ही देर में अपने रेशमी रूमाल से मेरी आँख का वह कोयला निकाल दिया तब कहीं मैंने संतोष की स्वाँस ली ! वह बोला !

"एक ही आँख में गिरा था; या दोनों में ?"

मैंने तुनक कर उसकी ओर देखा तो वह विनम्र हो गया मैं संभल कर बैठती हुई बोली—

"न जाने क्यों आधुनिक काल के युवक और युवती आपस में स्पष्ट व्यवहार क्यों नहीं करते ! यदि मेरे स्थान पर कोई युवक होता तो क्या आप उसके कहने का इन्तजार करते ?"

युवक बोला !

"यह अपना देश जो है न अपनी विशेषताओं के लिए प्रसिद्ध है ! किसी पराई स्त्री का शरीर छूना यहाँ अपराध है ! आप गिर पड़ी हों ! लुढ़क पड़ी हों परन्तु कोई अपरिचित युवक आपको छूने का साहस नहीं करेगा ।"

"क्यों ?"

"नारी का शरीर पुरुष की संपत्ति है और उसे छूने का अधिकार उसी संपत्तिवान पुरुष को है ।"

"पर मैं तो किसी की सम्पत्ति नहीं हूँ!"

"अभी नहीं हैं तो क्या; आगे होंगी उसके प्रति सच्चाई का व्यवहार रखना आपका कर्त्तव्य है ?"

"क्या उदारता के माने आप महज यह समझते हैं कि शरीर को अछूता रखा जाय मानिये कि एक युवती शरीर से अछूती रहती है और मन छू उठा है किसी पुरुष के प्रति तब ?"

"आप बड़ी भोली हैं; परन्तु आपके भोलेपन में भी एक विशेषता है।

"वह क्या ?"

"आपके भोलेपन में अल्हड़ता नहीं बल्कि समझदारी है !

"चलो जी ! तुम मुझे लगे बनाने !

"आपको बनाने की आवश्यकता नहीं है; आप जैसी भी हैं ठीक हैं !"

"वाह जी तुम मुझे आप क्यों कह रहे हो। क्या मैं कोई बुढ़िया हूँ ? जनाब ! आप अपने से बड़े को कहते हैं।"

वह मुस्करा उठा और बोला—

"मैं समझता था कि तुम एक साधारण युवती हो, पर तुम मेरे लिए एक पहेली बन गई ! मुझे डर लग रहा है !"

"क्यों ?"

"इसलिये की तुम जैसी स्वच्छ हृदय युवती को नैनीताल जैसे स्थान में कोई जगह नहीं है।" उसने उत्तर दिया।

"पर मैं तो हर वर्ष जाती हूँ।" मैंने बड़ी सरलता से उत्तर दिया। युवक आश्चर्य से मेरी ओर देखने लगा और बक्स से शीशा निकाल कर मेरी ओर देते हुए बोला—

"जरा शीशे में अपने आपको निहारो ?"
मैं शीशे में देखती हुई बोली !
"मुझे तो कोई खास बात दिखाई नहीं देती !"
"पर मुझे तो मालूम, होती है !"
"वह क्या ?" मैंने पूछा !
"सुनना चाहती हो ?" युवक ने पूछा !
"हाँ हाँ !" मैंने कौतुहल पूर्वक कहा !
" तो वायदा करो बुरा तो न मानोगी ?" युवक ने कहा !
"बिल्कुल नहीं !"
"अच्छा मेरे पास आओ ! युवक ने कहा !
"मैं उसके बिल्कुल पास चली गई !
"शीशे में देखो ?"
मैंने देखा वह और मैं दोनों शीशे में दीख पड़े ! उसने कहाँ !

क्या पिछली साल भी तुम्हारे कपोलो पर इतनी गहरी अरुणाई थी। क्या तुम्हारी पुतलियाँ गत वर्ष भी जिस बिन्दू पर चाहती थी तिरछी हो जमी जाती थी ? अब अपने शरीर को निहारो। इस दुपट्टे को हटा दो ? हाँ अब अच्छी तरह देखो ? सोचो दोसाल पूर्व अपनी शरीर की गठन को उभार को;और अब यह सब युवस्था के ही लक्षण है। तुम विदुषी हो और जिस पर भी निष्कपट पर दुनिया तुम्हारी सी नहीं ! जब तुम इस भोलेपन से किसी पुरुष के सामने खड़ी हो जावोगी , तब जानती हो-क्या होगा ?"

"नहीं !" मैंने उसकी ओर देखते हुए कहा !

"अरी ओ अल्हड़ भोली ! उस समय तूफ़ान आ जायेगा तूफ़ान–दुनिया बदल जायेगी तुम्हारी !"

"परिणाम ?" मैंने पूछा !

"परिणाम पूछती हो ?"

उसने जिस समय यह पूछा ट्रेन एक स्टेशन पर आलगी ! तब उसने एक नकाबपोश युवती की ओर उंगली उठाते हुए कहा !

"यातो कोई पुरुष तुम्हें इस प्रकार कैद करने के लिये बेचैन हो उठेगा या फिर................ ...।"

चारों ओर अपनी नजर दड़ौाते हुये एक महिला की ओर उंगली करते हुये कहा—'इस प्रकार।"

मैंने देखा एक अर्धनग्न पोषाक में ऐंग्लो इन्डीयन युवती खड़ी है,उसके वस्त्र इतने बारीक कपड़े व पारदर्षक के थे कि उसके जांघों की चिकनाई और वक्षस्थल की गोलाई स्पष्ट दिखाई पड़रही थी ! उसके होट रंगे हुये हैं ! कई टामी उसे घेरे खड़े थे ।

मैंने अपनी आँखें मीचते हुये कहा—

"यह सब एक न होगा ! विश्वास रक्खो ?"

× × × ×

: २ :

मैं नैनीताल में अपने दिन बड़ी हंसी खुशी के साथ व्यतीत कर रही थी मेरे हृदय में रास्ते की बात बुरी तरह चुभ रही थी ! विधना को तो मेरी बात झूटी करनी ही थी। अतः

नैनीताल पहुँचने के कुछ दिन बाद ही मेरा परिचय एक ऐसे युवक से हुआ जो न जाने क्यों मुझे बड़ा भला लगा इसके मिलन की घड़ी बड़ी ही सुन्दर थी उस सुनसान पहाड़ी पर! उसके पूर्व वहाँ मेरा परिचित और कोई नहीं था! मैं अकेली अपने बंगले से निकलती और बहुत देरी में वापिस होती तभी तो एक दिन चाची बोलीं—

"बेटी! तू अकेली अधिक दूर मत जाया कर। देख ना समय कितना खराब है! क्या करूँ? मजबूरी है! एक भतींजा भी यहीं रहता है कई बार तो बुलवाया है उसे! पर वह है कि उसे समय ही नहीं मिलता! आता तो तुम्हें अपने साथ घुमा लाया करता!"

और उसके दूसरे ही दिवस ऊषा की बेला में उससे मिलन हुआ अगर आप नैनीताल गये हो तो शहर के उत्तर की ओर पड़ने वाले उस भीषण जल-प्रपात को अवश्य देखा होगा; इस प्रपात के ईर्द गिर्द की वनस्थली की भूमि ऐसी कोमल है जैसे कि कालीन! उसकी वनस्पतियाँ इतनी सघन है कि दस कदम दूर से दुनियां घिरी सी जान पड़ती है! और जब मैं एक झुरपुट में पहुँची तो क्या देखती हूँ कि हरी हरी घास पर एक गोरा; लम्बा, छरहरा, शरीर लेटा हुआ है पास ही डाल पर उसने अपने कोट को स्थान दे रखा है! मेरे पांवों की आहट पर उसने अपनी आँखें उठा दीं! मालुम पड़ा कि वह मुस्करा रहा है। वह बोला—

"आओ।"

उसकी बुलाहट अत्यन्त ही मधुर स्वागतपूर्ण जान पड़ी। मैं बिना हिचके उसके पास चली गई।

"बैठिये ! तुम कहाँ से आई हो ?" प्रश्न किया उसने !

"आगरे से ! और तुम ?" पूछा मैंने !

"मैं भी ! तुम्हारा नाम ?"

"मुझे सरिता कहते हैं !" मैंने उसी स्वर में उत्तर दिया।

"तुम्हारा नाम बड़ा ही सुन्दर है। और मुझे ललित कहा करते हैं।"

इसके बाद नीरवता छागई। ललित बोला—

"मैं रोजाना यहाँ आता हूँ। कल भी इसी समय आऊगा। आज देरी अधिक होगई मैं जारहाहूँ !"

वह चल भी दिया है अतः अनायास मेरे मुह से भी निकल गया !

"मैं भी कल जरूर आऊगी ! इसी बेला में !"

और जब मैं बंगले लोटी तो मैं बड़ी खुश थी ! अङ्ग २ हँस रहा था ! मुझे देखते ही चाची बोल उठी !

"बेटी सरिता ! देखना विनय कितनी दूर से आया है आ तेरा परिचय करादू !"

मेरी नजर सामने के कमरे में गई देखा- एक युवक कुर्सी पर बैठा था !

"तो तुम हो विनय जी।"

पाठको ! आपको भी बतादू; यह वही युवक था जिसके साथ २ मैं ट्रेन में आई थी और उस दिन नाम भी न पूछ सकी।

"तो क्या तुम एक दूसरे को जानते हो !" चाची ने आश्चर्य से पूछा।

"हाँ चाची ! इन्ही के साथ तो आगरे से नैनीताल तक आई थी !"

"तूने तो बतलाया भी नहीं ?" चाची मुस्करा उठी !

"कोई खास बात होती तो बता भी देती ! मैंने नहीं बताया तो यहीं बता जाते ।"

"अरी बेटी ! यह क्या बता जाता बीसों बुलावों पर तो यहाँ आया है ! इसे समय कहाँ ! तेरी खातिर बड़ी सिफारिशों पर तो बुलाया है !"

"किसलिये ?"

"तुम्हें इधर उधर घुमाने को !"

"मैं कोई बच्ची नहीं हूँ। मैं खुद ही घूम लेती हूँ !"

"यह तो ठीक है ! पर साथ में किसी अपने के रहने से नारी सुरक्षित रहती है ! खैर चलो कुछ खाना खा डालो ! सब तैयार है !"

"चाची जान पूछ कर हम लोगों को एकान्त स्थान दे गयी !

"तुम्हारा मन यहाँ लग गया ?"

"जी हाँ ! खूब अच्छी तरह ।"

"तुम चाहो तो कभी कभी मैं तुम्हें घुमा लाया करूँ ।"

"धन्यवाद ।"

"तो कल बारह बजे तैयार रहें मैं आजाऊंगा ।"

"कल मुझे एक जगह जाना है ।"

\+ × + +

दूसरे दिन मैं अपना मनमोहक श्रृङ्गार कर ठीक समय पर उस वनस्थिलि में जा पहुँची !

"आगई सरिता?"

"हाँ हाँ ! लेकिन तुम्हें क्या मेरे आने का भरोसा नहीं था ?"

"था"

"कैसे हुआ ?"

"कल तुम्हारी आँखों में पढ़कर। बोलो—क्या मैं सच कह रहा हूँ ?"

"बिल्कुल ठीक कह रहे हो।"

मेरे इस कथन के साथ ही ललित मेरी लम्बी चोटी को अपने हाथों में लेता हुआ बोला—

"इतने मनोहर केश तो मैंने कभी नहीं देखे—किसको बाँधोगी इनमें ?"

"तुम्हें"

अनायास ही मेरे मुहँ से निकल गया ! मेरे वाक्य को सुनते ही उसकी लम्बी-लम्बी भुजायें व्याकुलता से मेरी ओर बढ़ने लगीं।

"मेरी सरिता !"

यह शब्द उसके होठों से निकल-मेरे मन मन्दिर में समा गया वह घड़ी मेरी जीवन में एक आनन्द की घड़ी बन गई। इतना आनन्द-इतना सरस तब से पूर्व मेरे जीवन में कभी नहीं आया था। आज प्रथम बार मैंने यह अनुभव किया कि पुरुष नारी की कितनी आवश्यक वस्तु है ! मेरे हृदय में रह रह कर यह भाव अठखेलियाँ कर रहा था-कि ललित का मुहँ चूम लूँ। उस संध्या को जब मैं वापिस आई तो देखा कि विनय मेरे कमरे में बैठा मेरी चीजों को देख रहा है। न जाने क्यों मुझे एकाएक क्रोध आगया मैं तुनक कर बोली—

"तुम यहाँ !···यहाँ क्या कर रहे हो जी ?"

"क्रोद्ध न करो 'सरिता' अपना मुस्कराता चेहरा पहिले की भाँति ही रक्खो; तुम इस रूप में बड़ी सुन्दर लगती हो ?"

वह नारी ही क्या ! जो अपने सौन्दर्य की प्रशंसा सुन कर प्रसन्न न हो जाय ! मेरा गुस्सा पानी २ होगया और मैं सरस स्वर में बोली—

"तुम्हें इस तरह चुपके २ आने की क्या जरूरत थी ?"

"अपने के कमरे में आना चोरी नहीं कहलाता सरिता ! परन्तुएक बात मेरी भी सुन लो प्रेम के दिनों; युवती हो या युवक ! उसके मस्तिष्क को कुछ आराम अवश्य मिलना चाहिये। और वह आराम जब ही मिल सकता है जब कि प्रेमी आपस में कम से कम मिले। कौन भाग्यवान पुरुष है वह ?"

"ललित।"

"ललित ! आगरे वाले ?"

"हाँ-हाँ। तुम उन्हें कैसे जानते हो ?"

"मैं जानता हूँ सरिता ! उसे पिछले पांच वर्षों से ! वह यहाँ आता है प्रति वर्ष उत्तर के उस भीषण जल प्रपात के नजदीक ही कहीं मिला होगा ?"

"हाँ हाँ !"

"वह उसका सफल स्थान है ! वहाँ हर साल अकेला ही जाता है !"

चाची के आजाने से बातों का ताँता टूट गया ! दूसरे दिन हम ११ बजे तक ब्रिज खेलते रहे ! घड़ी पर नजर पड़ते ही विनय ने कहा—

"जाओ तुम्हारा प्रेमी बाट जोहता होगा !"

और मैं मुस्कराती हुई अपने कमरे से चली गई।

\+ \+ \+ \+

: ३ :

शृंगार ही औरतों का सबसे बड़ा भूषण है ! वह अपने शृंगार से कामदेव को भी परास्त कर सकती है। विधाता की विधना बड़ी ही विलक्षण है– कि मैं जितना उससे दूर होना चाहती हूँ-उतनी ही नजदीक पहुँच जाती हूँ। जिस समय मैं वहाँ पहुँची तो सचमुच ही 'ललित' मेरी राह जोह रहा था। आज तो मेरे लिये उपहार भी लाया था; उसने अपने हाथों से ही पहिनाया था। उस मोती के हार को पहिन कर मैं सचमुच ही इन्द्र की अप्सरा के समान लग रही थी। बड़ा ही सुन्दर था वह हार। वह बोला—

"आज तुम्हें एक नये स्थान पर ले चलूँगा—चलोगी ?"

उत्तर में मैं उसके वक्ष से सट कर खड़ी होगई ! हम और वह एक नई जगह आगये ! एक बड़ी ही शाँनदार कोठी थी ! वह कोठी झील के किनारे पर थी हम लोग अन्दर गये तो मैं चित्र-ठगीं सी रह गई ! बीसों युवक और युवती घूम रहे थे सबकी सब सुन्दर आकर्षक; पर उनका भेष बड़ा निराला था। जालीदार चोलीयाँ और पारदर्शक झिलमिलाते घाघरे ! अङ्ग अङ्ग में आभूषण; बालों में कलियाँ अधखुले वक्षस्थलों पर लहलहाते फूलों के हार ! चुस्त पोशाक में एक २ युवक अपनी बगल में एक २ युवती लिये इन्द्र के अखाड़े की शान को भी किरकिरी कर रहे थे हमें देखते ही सबों ने हमारा स्वागत किया ! फिर एक अनूठा खेल आरम्भ हुआ आह ! कितना सुन्दर था वह नृत्य सब बहुत खुश थे ! युवतीयाँ उनकी तो कुछ पूछिये ही न ! उनके नेत्रों में दुनिया की सारी खूबसूरती लहलहा रही थी ! और उस दिन के बाद तो

मैं भी प्रतिदिन ललित के साथ उस अनूठी हवेली में वह प्यारा मनमोहक नृत्य करने जाने लगी।

इसी तरह तीन सप्ताह बीत गये! उधर विनय से भी रोजाना मुलाकात होती-मुझे अब वह पहिले का सा नीरस नहीं लगता था! उसकी बातों में भी मुझे सरलता का आभास मिलता था। वह मेरे साथ ब्रिज खेलता; बागों में घूमता और दुनियाँ भर की बातें भी करता! उस दिन जब कि मैं खुशी में ललित के नाम कीमाला फेर रही थी-उसका फोन मिला—

"मैं अब यहाँ से बाहर जा रहा हूँ!"

मैं समाचार सुनकर कांपने लगी और बोली—

"कितने दिन के लिये?"

"अनिश्चित।"

"तो आज तो मिलोगे न?"

"हां १२ बजे दोपहर को उसी बनस्थिली में!"

मैं ठीक बारह बजे वहाँ पहुँची तो वह सदा की भांति वहीं खड़ा था! मेरा दिल उमड़ा जारहा था! मेरा अपना विचार था- कि वह वियोग से व्याकुल होगा। मुझे देखते ही अपने वक्षस्थल से चिपटा लेगा और कहेगा- मेरी रानी- मैं बहुत ही जल्दी आजाऊंगा। पर वहां तो बिल्कुल विपरीत वह खड़ा मुस्करा रहा था! तब मैंने भी अपनी सारी मनोभावनाओं को हृदय में दबा लिये सोचा अपनी पराजय दिखाना उचित नहीं मेरा स्वाभिमान जाग्रत हुआ फिर भी बरबस मुहँ से निकल ही पड़ा!

"क्या बात आ पड़ी 'ललित'।"

"कुछ नहीं पिताजी का तार आया है-कि अब यहां भी गरमी नहीं रही है तुम शीघ्र चले आओ!"

"बड़ी खुशी है माँ बाप की आज्ञा का पालन करना चाहिये !"

"हाँ तुम्हारी बजह से इस वर्ष का प्रवास बड़ी अच्छी तरह कटा ! कहो कितना सुन्दर मनोरञ्जन रहा ?"

"बहुत ही सुन्दर ! मनोरञ्जन !

बहुत ही ना ! क्यों ! मक्कार पुरुष ! तो तू उस दिन इस बनस्थली में घड़ियाल की तरह मनोरंजन को ही पड़ा था ! प्रेम का नाटक जो तूने मेरे साथ खेला था वह सब तेरी मक्कारी थी ! मुझे यह सब का आभास पहिले ही मिल चुका था पर मैंने समझा कि मैं जो भी सुन रही हूँ वह सब एक स्वप्न है असत्य है मुझे तेरी ओर से उदासीन बनाने को बताया जारहा है ! ओह मैं कितनी पागल थी, कितनी भोली थी, कितनी नासमझ थी !

"सरिता आज तुम्हें यह क्या होगया जो विदाई के समय यह रूप दिखा रही हो ?"

मैं अपने भावों को अपने दिल में दबाती हुई बोली- "गलती हुई ललित क्षमा करदो !" तुम्हारे वियोग की कल्पना मात्र से ही मैं पागल होगई थी।

'ललित' आगे बढ़ा !

"अभी नहीं उधर चलो ।"

कहती मैं उसे एक शिला के पास लेगई ! वह एक बहुत ऊँची शिला थी हम दोनों उस पर बैठ गये ! उसकी आँखों में मद होशी छाती जा रही थी अन्त में वह बिल्कुल पागलसा हो मुझे अपने बाहुपाश में भर लेने को व्याकुलता से बढ़ा तो मैं बगल की ओर होगई ! और वह उस शिला खण्ड से नीचे की ओर··· !

× × × ×

रात्रि सर्वदा के काल रात्री थी वह आधी व्यतीत हो चुकी थी परन्तु मेरी आँखों में नींद न थी आँखें उनीदी थीं नींद आ भी कैसे सकती थी ! उसको मैंने उस शिला खण्ड से रक्तमय

नीचे की ओर लुढ़कते देखा था, वह लुढ़कता ही जा रहा था नीचे पाताल सी गहराई वाला आखात अपनी विकराल जिह्वा फैलाये पड़ा था, मैं उसके वहाँ पहुँचने तक न देख सकी तो क्या ख्याल ही ख्याल में सारा चित्र सामने मौजूद था; सन्तोष केवल इतना था कि वह अपने आप ही गिरा था! मै गिराने तो नहीं गई थी। मैं तो स्वयं ही उस शिला खण्ड से नीचे कूदने वाली थी परन्तु अन्तिम समय न जाने क्यों मेरी मति फिर गई थी जो उसके बाहुपाश में आबद्ध होने के बदले एक ओर सरक गई! लगा कि पुलिस मुझे पकड़ने आगई है लोग मुझे घेरे खड़े हैं सब के सब यही कह रहे हैं कि—इसी ने ललित को शिला-खण्ड से धक्का दिया है यह हत्यारिन है खूनी है पकड़ लो भागने न पावे देखो देखो वह भागने का प्रयत्न कर रही है पकड़ो!

नहीं नहीं यह खूनी नहीं है यह तो एक भोली भाली युवती है। ललित जैसे सतीत्व के लुटेरे के हाथ पड़गई थीं यह निर-पराध है हत्यारा तो वही था उसने न जाने कितनी भोली भाली अबलाओं का सतीत्व नष्ट किया था! इस वीरबाला ने उस पातकी का अन्त समय निकट लाकर नारी जाति का महान उपकार किया है! यह खून की अपराधिनी नहीं है यह तो वीरांगना है!

सुना मैंने भीड़ को चीरते हुए मेरी ओर असफल प्रयत्न करते हुए चिल्ला रहा था 'विनय'।

अनायास ही मेरे मुँह से निकल पड़ा!

"विनय मुझे बचाओ वास्तव में मैं निरपराध हूँ तुम्हें तो मालूम ही है बचाओ न विनय! विनय!! जोर से चिल्लाई।

"क्या बात है सरिता क्यों पुकारा मुझे?"

कहता हुआ विनय सचमुच ही मेरे कमरे में आगया ! देखते ही मैं सन्नाटे में आगई क्यों कि उसके वहाँ होने की मुझे किंचित मात्र भी संभावना नहीं थी ! मैंने पूछा

"अरे ! तो क्या तुम यहाँ हो ?"

"हाँ !"

"चाची ने बुलाया था ?"

"नहीं आज मैं स्वयं ही आगया था !"

"क्यों ?"

"मेरा अपना ख्याल था कि आज मेरा यहाँ रहना जरूरी है।"

"किसलिये ?"

"तुम्हारे लिये सरिता !"

"विनय।"

"मैं सब जानता था और जानता हूँ।

"पर अब मेरा भविष्य ?"

कहती हुई मैं गिरने जारही थी कि मुझे विनय ने संभाल लिया ! उसकी आँखों में मेरे लिये जाने कहाँ से दया का सागर उमड़ आया ! उसने मेरे आँसू न निकलने दिये !

"मैं जानता था सरिता; वह धोखे बाज है।"

"तुम जानते थे ! फिर रोका क्यों नहीं ?"

"रोकना बेकार था तुम मानती ही नहीं।"

"सच कह रहे हो विनय ! क्षमा करदो न !

मैं उनके चरणों पर झुक पड़ी मेरी आँखों से आँसू निकल उनके चरणों को गीले करने लगे—प्रेम में, विह्वल हो हिचकियाँ जो बँधगई थी मेरी।

नर्तकी

"माँ ! ओ माँ !!"

"क्या है री कान्ता ? क्यों इतना शोर मचा रक्खा है ?"

'माँ आज मैं नई साड़ी पहिनूंगी, और चूड़ियाँ भी; देखो न ! कमला और विमला ने भी तो पहिनी हैं, वह सारे मुहल्ले को दिखा कर मुझे चिढ़ाती फिर रही हैं।" चौदह वर्षीय बालिका नेअपने गोरे सुडौल शरीर व हाथों को निहारते हुये कहा।

माँ ने सुना, और एक दम उबल पड़ी—"कुलटा ! अभागिनी ! चूड़ी पहिनेगी ? अपने सौभाग्य को तो मिटा चुकी अब त्यौहार के दिन हमारा अपशकुन कर रही है। चल दूर हो मेरे सामने से बड़ी आई चूड़ियाँ पहिनने वाली।" बेचारी बालिका स्तब्ध रहगई, वह हतप्रभ होगई, उसके हिरणी के समान नेत्रों में आँसू छलक आये ! वह बेचारी क्या जाने "सौभाग्य" और "अभागिनी" का-अर्थ वह इन शब्दों से अभी पूर्णतया अपरचित थी। उसकी समझ में न आया कि माँ क्या कह रही है। वह उदास मन से अपने कार्य में संलग्न होगई परन्तु उसका हृदय व्यथित था।

पड़ौस में एक नवयुवक दिनेश की शादी हुई और उसकी नव विवाहिता पत्नी आई सारा मुहल्ला उमड़ पड़ा उसे देखने के लिये-परन्तु कान्ता अपने गृहस्थ के दैनिक कार्यों में व्यस्त थी इसलिये न जा सकी, दिनेश की बहू को देखने के लिये।

उसकी गहरी नीली आँखों में से उदासी झाँक रही थी। आखिर उसके भी तो हृदय है। वह तृषित नेत्रों से देखती कि उसकी हमजोली लड़कियाँ सजधज कर निकलतीं, खेलतीं, हँसतीं हैं और वह घरकी चहारदीवारी के अन्दर बहिष्कृत सी अपना जीवन व्यतीत कर रही है। आज वह अपनी उत्सुकता रोक न सकी और पहुँच ही गई नवविवाहिता 'वधू' के पास जिसे पड़ौस की स्त्रियाँ घेरे बैठी थीं। एक अज्ञात खुशी लिये हुए उसने कमरे में पांव रक्खा और उसी समय उस पर बिजली-सी गिरी मौहल्लै की सारी स्त्रियां गर्ज उठीं—"अभागिनी" कलमुही अपना कलङ्कित मुँह लेकर ऐसे शुभ अवसर पर आ पहुंची। अरे दिनेश की बहू को बचाना इस चुड़ैल से, कहीं इसका परछाँया न पड़ जाय। देखो तो! अपना भाग्य फोड़ चुकी अब दूसरों के भाग्य को भी ईर्ष्या से देखती है।" उसने सब कुछ सुना और अपना मुँह ग्लानि से ढक लिया, खीझकर रो उठी और उलटे पाँव ही लौट पड़ी अपने कमरे में और फफक-फफक कर रोने लगी। आखिर उसने ऐसा क्या अपराध किया जिसके कारण उसकी छाया भी अपवित्र है। उसका हृदय विकल हो उठा, वह उठी और भगवान की प्रतिमा के सामने जा खड़ी हुई प्रतिमा को झकझोर कर पूछने लगी —तुम्हीं बताओ प्रभु! मैंने ऐसा क्या गुरुतम अपराध किया है, क्या पाप किया है, जिसका समाज मुझे यह कठोर दण्ड दे रहा है?" उसका हृदय विद्रोह कर रहा था उसी समय उसकी मां बोल उठी "कान्ता देख! नल आगये हैं जाकर पानी भरले।

उसने सुना और अपनी आँखों में आये हुये अश्रुविन्दुओं को सँभाल कर अपनी मलिन धोती के पल्लू में ले लिया।

इसी प्रकार दिन और रात का क्रम चलता ही रहा जिस प्रकार कि यह क्रम आज भी चल रहा है और न जाने कब तक चलता रहेगा। समाज के द्वारा निर्धारित संकीर्ण परिधि में वह अपना नीरस जीवन व्यतीत करती रही, आखिर थी तो एक अबला ही! उसे इतना अधिकार कहाँ कि वह 'उफ' भी कर सके! जिसने कुछ भी करने की चेष्टा की समाज ने दानव बन अपने लौह पञ्जों से उसकी गर्दन मरोड़ डाली।

× × ×

एक मुसलमान नव युवक उस गली में नित्यप्रति फल बेचने आता था, उसने कान्ता को फल बेचने के बाद यह बताया कि 'इस्लाम' में विधवा का उतना ही आदर और सत्कार है जितना कि एक सौभाग्यवती का! वह हँस दी और एक दीर्घ निस्वास छोड़ते हुए कहा "नहीं! भगवान ने जो कुछ भाग्य में लिखा है वह मुझे अवश्य भोगना है मैं अपने इस जीवन से बाहर नहीं जा सकती।" युवक उत्तर सुन स्तब्ध रह गया। उसे ऐसा उत्तर मिलने की आशा कदापि न थी किन्तु दूसरे ही क्षण युवक की आंखों में पैशाचिकता नाच उठी, उसके चेहरे पर कुटिल मुस्कान खेल गई, उसने एक बार लोलुप-दृष्टि से कान्ता को देखा और चला गया

× × +

एक दिन विनोद वश कान्ता ने अपने सूने भाल को सिन्दूर से भर लिया और दर्पण के सन्मुख खड़ी हो एकटक अपने अर्ध विकसित यौवन का अवलोकन करने लगी। वह कुछ क्षणों के

लिये स्वयं अपने ऊपर मुग्ध हो उठी—कितनी सुन्दर लगती हूँ मैं सिन्दूर लगाकर व कमला विमला ही क्या मौहल्ले की कोई भी लड़की तो मेरी बराबरी नहीं कर पाती ! यदि मैं रोजाना अच्छे २ वस्त्र पहनूँ तो और भी सुन्दर लगने लगूँ। तभी सहसा उसकी मां ने उसे देख कर अपना सिर पीट लिया "ओह कलंकिनी ! तूने यह क्या किया ? तू तो स्वयं अपने कुटिल हाथों से मिटा चुकी है अपने सौभाग्य को !" उसके हाथ से दर्पण छूटकर गिर पड़ा और चूर २ हो गया । वह ठगीसी-लुटीसी भयभीत हरिणी के समान अपने स्थान पर पत्थर की प्रतिमा जैसी खड़ी की खड़ी रहगई उसकी मां बढ़ी और उसके निर्दोष मुँह पर अपने बज्र–सम हाथों के निशान बना दिये ! सौभाग्य सिन्दूर से जगमगाते उसके मस्तक को दीवार से दे मारा और अपने हाथों से उसका सिन्दूर पोंछ डाला। सुन्दर नेत्रों में अश्रुधार उमड़ी, उसने अपने मुँह को ढंक लिया दोनों हाथों से और रो पड़ी फफक-फफक कर !

× × ×

एक बार फिर उस मुसलमान युवक ने अपना तीर फेंका। सैंकड़ों सुनहले, रुपहले दृश्य उसके सम्मुख रक्खे । रजत-रजनी और स्वर्णिम प्रभात के काल्पनिक मनोहर चित्र खींचे तो कान्ता चकित रहगई। क्या सन्सार में ऐसी ख़ुशियाँ भी है ? क्या ऐसी स्वप्नवत वस्तुए भी साकार हो सकती है ? क्या मैं भी इन्हें पा सकती हूँ ? और जब इस नवयुवक ने उत्तर में 'हाँ' कहा तो वह आनन्द विभोर हो उठी । उसका मन मयूर थिरक उठा, वह उतावली हो गई उस सुखमय जीवन में जाने के लिये, और उधर यह नव युवक अपनी विजय पर अट्टहास कर उठा।

आज ही तो वह मधुर यामिनी है जब मैं इस महाकारागार से मुक्ति पाऊँगी। रात्रि के गहन अन्धकार में प्रकाश की जर्जर क्षीण ज्योति में लिपटे निशीथ तुम जानते हो कि आज मैं इस निर्दयी समाज को ठोकर मारकर चली जाऊँगी। समाज के इस पाखण्ड और घृणित व्यवसाय का, जिसने कि मुझे यहाँ से जाने को विवश कर दिया है, सर्वनाश करदूंगी। काश मैं अपने जीवन में वह दिन देख सकूँ, जब समाज का यह पाखण्ड और रूढ़िवादी विचारधारा कुत्ते की मौत मरे, उसदिन मैं हँसूँगी, अट्टहास करूँगी, हर्ष से पागल हो जाऊँगी और दम तोड़ती हुई इन विभीषिकाओं-समाज के कीटाणुओं को एक ठोकर मारकर सदा के लिये मिटा दूंगी--जो समाज नारी को पुरुप के "पैर की जूती" समझता है मैं ऐसे समाज को मिटा दूंगी। जो नारी को अबला कहते हैं उन्हें मैं बता दूंगी कि नारी अबला नहीं सबला है।.........भावावेश में वह बड़बड़ा रही थी।

× × ×

कौन जानता है समाज की ठुकराई हुई कान्ता ही आज देहली की सर्व श्रेष्ठ नर्तकी और राजा महाराजा, सेठ-साहूकारों की चहेती बनी हुई है! जिसका रूप लावण्य; हिन्दुस्तान की राजधानी के वार्तालाप का एक मुख्य विषय बन गया है। बड़े बड़े राजा महाराजा, सेठ साहूकार उसके चरणों में अपना मस्तक रगड़ने में ही अपना गौरव समझते हैं किसी बड़े धनाढ्य की महफिल उसकी अनुपस्थिति में सूनी रहती है, उसकी स्वर लहरी में मादकता है, बिना किसी 'साज' के भी जब वह 'अलाप' लेती तो गन्धर्व-गण भी चकित होकर वातावरण को पूर्ण निस्तब्धता से भर देते वह स्वयं चकित थी इन दो वर्षों में परिवर्तन को देखकर-

उसके ३ बँगले थे और २ सुन्दर कारें थीं। जिस समय वह समाज के ठेकेदारों को अपने चरणों में लोटते देखती तो उसके दग्ध हृदय को असीम शान्ति प्राप्त होती-वह मुस्करा उठती परन्तु कोई भी उसकी मुस्कराहट का गूढ़ रहस्य नहीं समझ पाता।

\+ + +

एक दिन समाज और धर्म के ठेकेदार किशन जी को (जिसने कि उसके पिताजी को उसके "पुनर्विवाह" के प्रस्ताव पर जाति-च्युत व सामाजिक बहिष्कार की धमकी दी थी) अपने सामने देखा तो उसे सारा संसार घूमता हुआ मालूम पड़ा। वह ज्ञान शून्य होगई। उसे अपनी आँखों पर विश्वास नहीं हुआ। उसने यह देखने के लिये कि यह सब स्वप्न तो नहीं, अपने शरीर को चिकोटी काटी और पीड़ा अनुभव की तो वह पुलकित हो उठी उसके जर्जरित हृदय में 'प्रतिशोध' की अग्नि प्रदीप्त होगई। उसे हर दिशा से 'प्रतिशोध' की ध्वनि सुनाई पड़ने लगी। उसकी श्वास धौंकनी की तरह चलने लगी--उसके नथुने फूलने लगे और वह हाँफने लगी। चिर प्रतीक्षित समाज के शत्रु को नष्ट करने के लिये वह व्यग्र हो उठी। उसने अपना मार्ग निश्चित किया और तुरन्त संयत मादक स्वर में उसने उसका स्वागत किया।

"आइये--रुक क्यों गये !" किशनजी मदिरा के नशे में खो चुके थे। उन्होंने उसे आलिङ्गन बद्ध करना चाहा······तभी 'कान्ता' की चमकती हुई कटार मुक्ति दूत के समान 'खच' से उसके हृदय के पार होगई। वह पीड़ा के कारण हृदय को हाथ से दबाकर गिर पड़ा। उसकी मृत्यु-भार से दबी पलकें एक बार उठीं और उसने वहाँ एक वेश्या के स्थान पर साक्षात् 'रौद्र रूप में

खड़ी' कान्ता को देखा वह काँप उठा······५ वर्ष पूर्व का दृश्य उसके नेत्रों के सामने छाया--चित्र की तरह घूम गया। वह चीख मारकर लुढ़क गया और तभी वेश्या के रूप में खड़ी 'कान्ता' ने उसके मुह पर घृणा से थूक दिया--वह अट्टहास कर उठी और यह था उसका "प्रतिशोध!"

× × ×

दूसरे दिन नगर वासियों ने आश्चर्य से देखा कि राजधानी की सर्व श्रेष्ठ वेश्या नर्तकी, राजा महाराजों की चहेती-सेठ साहूकारों की मुँह लगी परी का शव उसके शयन-कक्ष में रस्सी के सहारे झूल रहा है और फर्श पर एक अधेड़ व्यक्ति का 'पिंजरा' पड़ा है! आजतक नगर का कोई भी व्यक्ति इस रहस्य को न समझ सका कि आखिर किस कारण से नगर की सर्व श्रेष्ठ सुन्दरी नर्तकी ने आत्महत्या करली-और न कोई शायद इस रहस्य की तह में पहुंच पायेगा।

प्रतिशोध

एक दिन की बात है, सूर्यास्त हो चला था। राजन अपने तीन बच्चों के साथ भोजन बनाने का प्रयत्न कर रहा था। बच्चे मचल रहे थे—"बप्पा बड़ी भूख लगी है उ हूँ हूँ…।" दो तीन बच्चों की एक साथ ही मचल ६० वर्षीय दुखी राजन के लिये सँभालना असंभव न होते हुए भी कठिन था। वह थोड़ा थोड़ा गुड़ उनके हाथ पर रख कर पुचकारते हुये कहने लगा, 'लल्ला! घबराओ नहीं; अभी अभी गरम गरम रोटी बनाता हूँ और मिट्ठू खायेगा।' राजन बच्चों को पुचकार कर टूटी मड़ैया में चूल्हा सुलगाने लगा और बच्चे कूद कूद कर बाहर खेलने में लग गये। इतने में दो घुड़सवार बड़ी तेजी से झोंपड़े के पास आ धमके। बच्चे सहमे, सब झोंपड़े के दरवाजे पर जा ठिठके। एक घुड़सवार ने आते ही आवाज दी अरे केवट! ओ केवट!! अबे ए छोकरे! अपने बाप को बुलावो।"

बड़ा लड़का—"बापू! तुमको कोई बुलाता है।"

राजन—कौन है रे? रात को बुलाने आया है?"

लड़का—(धीरे से)"बाबा ! सिपाही है।"

राजन—"सिपाही है तो क्या ? मैंने किसी की चोरी-चकोरी की है ?"

सिपाही "अबे आता है या नहीं ?"

राजन—"आता तो हूँ-चूल्हा जलाता हूँ, जलेगा तभी आ सकूँगा ?"

सिपाही—"पहिले बाहर तो निकल आ फिर चूल्हा जलाना।"

राजन—"ठहरो भैया ! तुम तो खाकर आये हो। यहाँ दिन भर से बच्चे भूखे मर रहे है। उनके पेट में चारा डाल देने का प्रबन्ध तो करलूँ।"

सिपाही—"यदि जल्दी बाहर नहीं आवेगा तो मैं इसमें आग लगा दूँगा।"

राजन—"सच कह रहे हो सरदार महाराज भागीरथ तप करने चले गये और यहाँ गीदड़ों का राज्य होगया (घर से वाहर निकल कर) कहिये क्या आज्ञा है ?"

सिपाही—"हम लोगों को एक सरकारी कार्य से इसी समय नदी पार जाना है। हम पुलिस अफसर हैं। जल्दी करो।"

× × ×

बुड्ढा राजन चुप होगया—उसके हृदय में तरह तरह की भावनायें उठने लगीं। इतने में पुलिस अफसर ने फिर पूछा ?"

—"बूढ़े ! तूने मेरी बात सुनी या नहीं ?"

—सुन लिया और अच्छी तरह, लेकिन……

—लेकिन क्या ?"

—"लेकिन यही कि इस समय मैं नहीं जा सकता।"

—क्यों ?"

—"सारा दिन परिश्रम करने के बाद मैं थक गया हूँ। बालकों की माँ न जाने किस पाप के कारण मर गई।" अब इनकी सँभाल करना है। सबसे पूर्व इन अबोध बच्चों को खिला पिला कर सुलादूँ। फिर कमाने की चिन्ता करूँ।"

—"अबे ए! मैं जो आदमी ही नही हूँ।"

—फिर तो आप देवता होंगे। अथवा महाराज की तपस्या भंग करने बाला राक्षस!

मैं पुलिस का अफसर हूँ।

होगे! महाराज के खजाने से वेतन मिलता होगा। चैन से भोजन मिलता है।

—अबे ओ बुड्ढे! तू आदमी की तरह बात ही नहीं करता है।

—भाई साहब! मैं तो आदमी नहीं, जंगल में रहता हूं, पशुओं की भाषा बोलता हूँ। यदि मैं भी तू तकार करता तो बह आदमियों की बोली होती।

दूसरा साथी—"जान पड़ता है बूढ़े की शामत आई है। अबे सुनता क्यों नहीं ?"

—क्या सुनूँ ?"

—हम लोगों को सरकारी काम से उस पार जाना है। चल हम लोगों को नाव से उस पार पहुँचा आ।

—'इस समय।'

—'हाँ इसी समय।'

'बिलकुल असंभव ?'

क्यों ?

—भाई ! तुम लोग सरकारी नौकर हो। तुम्हें उस पार जाना है। मैं किसी का नौकर नहीं। वह सामने नौका है ले जाइये—राजकाज में बाधा देना प्रजा का ध्येय नहीं।

—लेकिन तुम्हें ही नाव लेकर जाना होगा।

सरकार ! दुराग्रह न करो। मैं रोटी बनाता हूँ। आप लोग भी रोटी खायें—बच्चे रोटी खाकर सोयें। बड़े ही तड़के मैं आपको उस पार पहुँचा दूँगा।

अफसर—यह सीधी तरह मानने वाला नहीं। लगाओजो इसमें हन्टर अभी होश में आ जायेगा।

: २ :

अफसर का साथी उसमें कोड़े बरसाता है। बूढ़ा राजन दर्द के मारे चिल्ला उठता है। उसके बच्चे नजदीक पहुँचते हैं और उन पर भी कोड़े बरस पड़ते हैं। इतना कोहराम उठता है कि घोड़े भी चौंक उठते हैं। हाय भगवान—मरा रे—बचाओ रे—महाराज भागीरथ कहाँ हो—तुम्हारे राज्य में यह अन्याय का नाटक क्यों ?

× × ×

बेचारे गरीब दुखी बुड्ढे राजन की और उसके बच्चों के क़राहने की आवाज इतनी ऊँची उठी कि वह भगवान के आसन को हिला देती किन्तु पास में ही स्थित सम्राज्ञी शिविर दुखी परिवार के आर्तनाद से कांप उठा। महारानी के कानों पर—बचाओ हे भगवान—महाराज भागीरथ कहाँ हो—तुम्हारे

राज्य में यह अन्याय क्यों ? आदि शब्द पड़े—चौंक उठी। उन्होंने सहचरियों से पूछा—

महारानी—यह कैसी दर्दनाक आवाज है ?"

दासी—'महारानी किसी के रोने की आवाज है।"

महारानी—'ऐसा जान पड़ता है पास में ही किसी पर संकट है।"

दासी— ऐसा ही जान पड़ता है सम्राज्ञी।'

महारानी—'चलकर देखना क्या अनुचित होगा ?"

दासी—कभी नहीं ! आप प्रजा की राजमाता हैं, यदि माता ही बच्चों का कष्ट से उद्धार न करेगी तो फिर कौन करेगा ?'

महारानी ने चटपट शिविर से चन्द दासियों और कुछ सिपाहियों के साथ निकल पड़ी। ज्यों ज्यों वह आगे बढ़ती त्यों त्यों रोने और कराहने की आवाज स्पष्ट होती जाती और कुछ ही देर में सम्राज्ञी दलबल सहित उस स्थान पर जा पहुँची, जहाँ दुखी राजन अपने बच्चों के साथ पड़ा कराह रहा था— और घुड़सवार कह रहे थे, अबे होश में आया या नहीं अब चलेगा या नहीं।

: ३ :

महारानी को देखते ही घुड़सवारों की सारी तेजी भाप बन गई। महारानी ने जाते ही पूछा—'इसे तुम लोग इस बुरी तरह क्यों पीट रहे हो ?'

अफसर—'महारानी जी यह आज्ञा की अवज्ञा कर रहा था। हम लोग सरकारी काम से उस पार जाना चाहते थे, परन्तु यह नौका ले जाने से इन्कार करता है।"

महारानी—'यहाँ नौका इसकी है अथवा सरकारी ?"

अफसर—'इसकी है।'

महारानी—'यदि यह अपनी नौका लेकर तुम्हें उस पार उतारने न जाय तो आपका अधिकार ?'

—यह सच है महारानी जी ! यदि सभी प्रजा इस प्रकार सरकारी काम में मदद न करे तो राज-काज कैसे चलेगा ?

—प्रजा को प्रसन्न कर उनसे कार्य लीजिये, उन पर अत्याचार करके उनका हृदय नहीं जीता जा सकता।

—महारानी जी ऐसे ही व्यवहार से तो आज कल प्रजा शोख और अवज्ञाकारी बनती जा रही है।

तुम्हारा ख्याल गलत है। प्रजा पर अत्याचार करने से प्रजा बागी बनती है और सरकार को उलट देती है। वह अफसर कभी लोक प्रिय नहीं होता, जो अपनी सद्भावनाओं से नहीं आंतक से प्रजा पर शासन करना चाहता है।

—देवि ! इसी से राज्य में अराजकता······

—'बस चुप रहो।'

महारानी आगे बढ़ी और दुखी राजन को उठाया, तो देखा कि उसके पीठ की चमड़ी उधड़ गई है। बड़े बच्चे के भी ऐसा कोड़ा लगा है कि उसके बदन से रक्त छलछला रहा है।

राजन से खड़ा हुआ नहीं जाता था। वह टेढ़ा होकर किसी तरह खड़ा हुआ और बिलख बिलख कर कहने लगा—देवि !रात का समय; स्वर स्तोत्र वाहिनी नदी का विशालपाट, घर में बच्चे निराहार, दिन भर का थका हुआ फिर इनको लेकर कैसे उस पार जाता ?

अफसर—महारानी जी ! सरकारी कार्य बहुत आवश्यक था अतः जाना जरूरी था ।

राजन—बच्चों की बदन की चमड़ी उधेड़ ली, राजमाता !

(बच्चे की रक्त से शराबोर पीठ दिखाता है और बिलख-बिलख कर रोने लगता है ।)

महारानी तमक कर अफसर के हाथ से कोड़ा छीन लेती है और सिपाहियों को आज्ञा देती है—"इस नर पशु को गिरफ्तार कर लो ।" अफसर पकड़ लिया गया । महारानी धीरे-धीरे राजन के पास पहुँचती है और अपने आँचल से उसके आँसुओं को पोंछती हुई उसे धीरज बँधाती है पर ६० वर्षीय वृद्ध राजन राजमाता की ममता पाकर और भी फफक फफक कर रो उठता है । राजमाता ने उसे अपने हृदय से लगा लिया और चुप कराती हुई उसके हाथ में कोड़ा देकर बोलीं—राजन ! आगे बढ़ो और राज्य के कलंक इस नर पिशाच को भी उतने कोड़े लगाओ जितने इसने तुम्हारे वृद्ध शरीर पर मारे हैं ।

राजन ने काँपते हाथों में कोड़ा लिया और मन ही मन फफक-फफक कर रोने लगा—आह मनुष्य इतना निर्मम !" महारानी-राजन क्यों खड़ा है, आगे क्यों नहीं बढ़ता है ? मुँह क्या ताकता है, लगा इसमें भी तान कर कोड़े—राजन आगे भी बढ़ा, कोड़ा भी ताना, सबके नेत्र उसके उठे हुये हाथ पर लगे थे । ऐसा जान पड़ा कि दूसरे की क्षण कोड़ों की बरसात से अफसर की धज्जियाँ उड़ जायेंगी ।

प्रति दिन हाथों की कसरत करने वाले बूढ़े नाविक का एक हाथ ही अफसर की सारी हेकड़ी भुला देता । परन्तु राजन

ने अपना तना हाथ नीचे गिरा लिया और अफसर के पास पहुँच कर कहने लगा:—

"भाई! तुमको कोड़े मारने से सन्तोष और प्रसन्नता हुई होगी। मुझे महारानी जी ने राजमाता ने प्रतिशोध लेने की आज्ञा दी थी, किंतु मेरा प्रतिशोध···मे···रा···प्र···ति···शो···ध (रुधे कण्ठ से रोते हुये) भाई मैंने तुम्हें क्षमा कर दिया—

सबके सब आश्चर्य चकित रह गये। महारानी जी नाविक के न्याय पर प्रसन्न होगईं और उसे तथा उसके बच्चों को अपने साथ शिविर में लेती आईं।

आज का समाज

भगवान सूर्य की अरुण किरणें उच्च शिखरों, वृक्षों की चोटियों को चूम रहीं थीं। संध्या का समय दृष्टिगोचर हो रहा था; ठीक इसी समय लता बाहर निकल पड़ी और लता सी लचकती हुई चल पड़ी। कहाँ जायगी? उसका लक्ष्य क्या है? पता न था, वह अग्रसर थी अपने जीवन पथ पर भूली और विभ्रांति सी। कौन उसे देख रहा था? कोई उससे क्या कह रहा था? इसका उसे ज्ञान न था। वह चेतनाहीन थी-कि एकाएक उसके कानों में एक करुण स्वर पड़ा। वह बढ़ गई आगे सरिता की भाँति अपनी धुन में मस्त, परन्तु रुकी पुनः वही शब्द सुनकर और घूम पड़ी। देखा फटे चिथड़ों में एक नारी जर्जर और कृषित अङ्गों से यौवन को पीकर खड़ी है! उसकी गोद में सोने के से लाल रंग का, नंगा हड्डियों का ढाँचा 'शिशु' उसका आँचल ओढ़कर पड़ा है। मस्तक पर रूखे केश-नेत्रों में जीवन की प्यास-क्षुधा बनकर झाँक रही है।

लता रूप के इस परिणाम पर सिहर उठी। उसकी ओर देखकर बोली—

"क्या चाहती हो ?"

"इस बच्चे को थोड़ा सा दूध ।"

इतने में कोमल शिशु भयभीत नेत्रों से लता की ओर ताकने लगा। लता उस बालक की दशा से मोम की भाँति पिघल गयी और बोली—

"तुम्हारे कोई नहीं है ?"

स्त्री नीरवता की साँस पीकर रह गयी, उदास नेत्रों से लता मुख देखने लगी, लता उसकी मुद्रा से मलीन हो गयी और उसकी ओर एक रुपया बढ़ाती हुई बोली—

"तुम इस प्रकार क्यूं अपना जीवन व्यतीत करती हो ?"

उसने काँपते हुये हाथों से रुपया लेते हुये कहा—

"यह भी भाग्य का दोष है कि सब कुछ होते हुये भी मेरे पास कुछ नहीं है।"

"इसका तात्पर्य ?"

"पूर्व जन्म का पाप ।"

"इस भावना में अन्धविश्वास है। जो होता है सब इसी जन्म का फल है।'

"होता होगा, लेकिन मैंने तो कोई भी पाप नहीं किया। तिस पर भी इस अवस्था में हूँ।"

"तुम्हारे घर के लोग हैं ?"

"सब तो नहीं, परन्तु पति देव तो हैं ही।"

"उसका नाम क्या है, वह कहाँ रहते हैं; और क्या करते हैं?"

स्त्री चुप होकर कुछ विचार करने लगी लता ने देखा कि उसके नेत्र सजल हो गये हैं, वह भी द्रवित हो गई। उसने पुनः सभी बातों के जानने का आग्रह किया तो स्त्री ने कहा—

"मैं यहाँ उन सब बातों को नहीं कह सकती।"

"तब मेरे साथ चलो।"

"नहीं मैं अपने घर चलूंगी, किन्तु आप वहां कैसे जायेंगी ?"

"क्यों घर बड़ा ही खराब है ?"

"आपको हम गरीबों से घृणा होगी !"

लता का हृदय उस स्त्री के दुःख को सुनने को आतुर हो गया दुःख में सब बराबर हो जाते हैं, उसमें गौरव और तुच्छता का कोई अन्तर नहीं रहता; लता स्वयं दुखी थी इसीलिये वह स्त्री के दुखों का अनुभव कर रही थी। सहानुभूति मानव की स्वाभाविक मनोवृति है। लता उसके मना करने पर भी उसके पीछे पीछे घर की ओर चलदी।

उस स्त्री के घर पहुँच कर लता ने देखा, कि दरिद्रता का वहाँ अखण्ड साम्राज्य है। मृत्यु के साथ जीवन के संग्राम का दृश्य उपस्थित था। मलिन और व्याकुल कमरा उसी की मल्लशाला हो रही थी। एक ओर टूटा घड़ा पड़ा था तो दूसरी ओर टूटी चारपाई; कमरे में उधर इधर दरिद्रता की हँसी फटे चिथड़ों में छुपाने का प्रयास कर रही थी, एक दीपक स्पन्दनहीन हृदय से नारी के बुझे प्रकाश से होड़ कर रहा था।

चारों ओर वस्तुएँ बिखरी थीं, मानो जीवन और मृत्यु युद्ध करते २ थक गये हों। कमरे के कोने में अपनी ही सीमित का एक सन्दूक पड़ा था, उस पर शिशु के टूटे-फूटे खिलौने। चारों ओर एक विभिषिका थी; डरावनी सी। वहां न किसी को हँसने का ही साहस था न रोने का अधिकार। यही नहीं वहां की वस्तुओं को देखने तक का भी साहस किसी में न था।

लता सिहर उठी, इतने में स्त्री एक फटा चादरा बिछाती हुई बोली—"बैठिये" परन्तु ऐसी दरिद्रों की दुनियां आपने कहीं न देखी होगी। यही कमरा हमारे लिये स्वर्ग है, हमारे जीवन का रंगमहल और प्रकाश है। दीवारों से अपनी बातें कह देती हूं और रो देती हूँ, तो यह भी सिहर कर रह जाती हैं।"

लता घबड़ा कर बोली—

"बहिन जल्दी से अपनी बातें बताओ, मुझे अभी दूर जाना है।"

"मैंने आज तक किसी को भी अपना रहस्य नहीं बताया परन्तु तुम्हारे विशेष आग्रह ने मुझे मजबूर किया है। लोग दूसरे के दुख पर हंसते हैं। यही सोचकर अपना जीवन बिता रही थी अच्छा सुनिये।"

"मैं एक अच्छे कुल की कन्या हूँ। मेरे पिता ने मुझे बड़े लाड़—प्यार से पाल-पोस कर शिक्षित बनाया। जब मैं विवाह योग्य हुई तो मेरे पिता ने एक पढ़े-लिखे-योग्य किन्तु निर्धन से मेरी शादी कर दी। मैं अपना सुहाग लेकर अपने पति के घर आई। सास न थी, केवल श्वसुर थे, परन्तु अभाग्यवश वह भी कुछ समय बाद चल बसे; और मैं घर में अकेली रह गयी। कुछ समय बाद मेरे पति को विलायत जाना पड़ा। मैंने पिता से किसी तरह

५ हजार रु० लेकर उनकी पढ़ाई को दिया। उन्होंने मुझे आश्वासन दिया और वह मुझे छोड़कर चले गये। करीब ७-८ मास बाद मेरे यहाँ पुत्र पैदा हुआ। पहले तो उनके पत्र बड़े ही प्रेममय आते थे किन्तु धीरे धीरे पत्रों की धारा साधारण हो गई। मैं इसका तात्पर्य न समझ सकी, मैंने अनुमान लगाया कि पढ़ने में अधिक संलग्न होने के कारण समय न मिलता होगा। धीरे धीरे मेरे पास जितना भी धन था वह सब खर्च हो गया। मेरे पिता मुझ अभागिन को छोड़कर स्वर्ग सिधार गये। कोई ऐसा निकट सम्बन्धी भी न था, जो मुझे कुछ सहायता देता। कुछ दिन बाद यकायक उनके पत्रभी आने बन्द हो गये, मैं एकदम घबड़ाई। मेरा किसी से थोड़ा परिचय भी न था। एक पुत्र को लेकर कहां जाऊं क्या करूं? मेरी समझ में कुछ भी न आयो। हिन्दू समाज में अबला सबसे निरीह प्राणी है, उसका कोई मूल्य नहीं उसका कोई साधन नहीं। दिन पर दिन बीतते चले गये। परन्तु उनका कोई पत्र नहीं आया। मेरी दशा पागलों की सी हो गई। मैं अपनी लोक लज्जा को बचाये घर में बैठी रोया करती थी। जब कुछ वर्ष व्यतीत हुये, तो मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि अब वह यहाँ न आयेंगे मैं निराश हो गई। करती क्या? मेरे पास रक्खा ही क्या था? विवश हो कर बाहर निकली तो मुझे ऐसा विदित हुआ कि लोग मुझे लोलुप नेत्रों से देख रहे हैं; मेरे सामने पेट का सवाल था एक असहाय स्त्री के लिये जीविकोपार्जन कितनी बडी समस्या है। यह जानते हुये भी संसार दया की भिक्षा नहीं देता। एक पेट के लिये नारी को क्यों अपनी—लज्जा, मर्यादा गौरव और अपना सौंदर्य सभी कुछ पुरुष के चरणों में अर्पित कर देना पड़ता है। मुट्ठी भर अन्न के लिये बड़ी अच्छी अच्छी कुलकन्याएं अपने रूप का सौदा बाजारों में बैठी किया करती हैं। चाँदी के चमकते

हुये चन्द टुकड़ों पर अपना सतीत्व बेचती हैं। पुरुष समाज उसे अपनी विलाशता का साधन समझता है, इसीलिये वह स्त्री को सर्वदा तिरस्कार की दृष्टि से देखता है।"

"यदि नारी पेट के लिये सार्वजनिक क्षेत्र में आती है तो पाती क्या है? कलंक मताड़ना, अपमान और निरादर।"

"उसके भाग्य में और क्या लिखा है; पुरुष समाज उसके सतीत्व और सौन्दर्य के बदले में देता क्या है? केवल मुट्ठी भर अन्न। उसे जनता के मध्य में खड़ा कर अपनी स्वार्थ सिद्धि करता है। अन्त में स्त्री की अवस्था ढल जाने पर उसे दासी से भी नीच समझने लगता है; "यह है आज का पुरुष समाज और उसके हाथों की कठ पुतली नारी।"

"मैं अपनी जीविका के लिये कई स्थानों पर गयी परन्तु लोग मेरी दयनीय अवस्था पर अधिक ध्यान न देकर मेरे यौवन और सौंदर्य पर ही अपनी दृष्टि निक्षेप करने लगे। मैं बड़ी सोचमय दशा में होगई कि भगवान ने यह रूप भी देकर एक कंटक तैयार कर दिया है। मैंने सोचा कि मुझे मरना पड़ेगा। किन्तु पुत्र के लिये विवश थी। अगर यह विस्मृति न होती तो या तो किसी कुएे में गिर कर मर जाती या वहाँ चली जाती जहाँ कि पुरुष की छाया भी न पड़ सके।"

"भर पेट खाना न मिलने के कारण मेरा स्वास्थ्य गिरने लगा और मेरा बच्चा माँ के जठरानल में जलने लगा। मैंने देखा कि जब मैं बाहर निकलती तो लोग मेरे पीछे लग जाते और कुछ तो व्यङ्गोक्तियों से मेरे ऊपर अश्लील शब्दों के बाण

छोड़ते। परन्तु मैं चली जाती पथ निहारती—काँपती सी लोलुप तथा मदान्ध नेत्रों के बीच में। सचमुच स्त्री अबला है वह पुरुष के सामने कुछ भी नहीं। उसका रूप उसके लिये स्वयं घातक है। वह स्वतन्त्र और स्वछन्द होकर भी पुरुष के हाथों का शिकार है। वह उनके कूट चंगुल से कभी भी न निकल सकती।"

"मैंने यही निश्चय किया कि अब किसी के यहां जाकर सेवा कार्य करूंगी; तथा पेट भर लूंगी। परन्तु इसी बीच में निराशा रूपी अन्धकार में आशा का दीपक चमक उठा। मेरे पास पत्र आया कि पतिदेव वहां से आई० सी० एस० परीक्षा पास होकर आ रहे हैं। मेरा आनन्द सीमा का अतिक्रमण कर गया, मैंने अपने आपको संसार में; पुनः सब से अधिक भाग्यशालिनी समझा और हृदय में कितनी ही अधूरी आकांक्षाओं को लेकर उनके आने का शुभ अवसर देखने लगी, मेरे स्वप्न फिर सच्चे होने लगे; मेरी कल्पनायें फिर सजीव सी होने लगी, मैंने संसार के चक्र को समझा। सुख के बाद दुख और दुख के बाद सुख इसी प्रकार आया करता है; मैंने किसी तरह अपने पुत्र को एक कमीज तैयार की अपने लिये एक साफ सी धोती। पति के आने की खुशी में मेरी भूख जाती रही एक नयी उमंग आ गयी मुझमें··· परन्तु।"

"विधाता की लीला बड़ी विचित्र है मनुष्य क्या चाहता है, और क्या हो जाता है; मेरी उमगों पर फिर वज्र गिरा, मैंने निश्चित दिन का एक एक पल भी बड़ी कठिनाई से काटा; इतने लम्बे वियोग के बाद मिलन-कितना सुखदायी होता है, उसकी कल्पना मात्र से मेरा हृदय नाच उठा। मैं दिन भर इधर-उधर

घूमती रही। सोचती रही कि कल से मेरे पैर भूमि पर न पड़ेंगे। संध्या सुहावनी बनकर आयी और निकल गयी, रात्रि सर्वदा की काल रात्रि भी निकल गयी, निराशा के अन्धकार की भांति। मुझे चिन्ता हुई कि वह क्यों न आये ? मैंने फिर आशा की और निराशा भरी दृष्टि से देखा तो मेरी दाहिनी आँख फड़कने लगी। मैंने सोचा कि दुःख के दिन अभी बाकी हैं! मैं उदास हो गयी; मुझे चैन न था। कुछ देर के पश्चात मुझे पता लगा कि वे आ गये हैं परन्तु घर न ठहर कर होटल में रुके हैं। इस सूचना से मैं हताश ही न हुई बल्कि ऐसा प्रतीत हुआ कि किसो ने मेरे ऊपर पत्थर पटक दिया हो ?"

"मैं सोचने लगी कि अगर उन्हें किंचित मात्र भी ध्यान होता तो मुझे इस प्रकार क्यों छोड़ देते मैंने समझ लिया कि अब वे मेरे पति न....... ।"

स्त्री फूट २ कर रोने लगी, लता ने उसे सांत्वना दी और उसे आगे कहने को मजबूर किया वह अपने आँसू पोंछकर कहने लगी—

"मुझे ऐसा विदित हुआ कि अब वह मुझे अपने घर में नहीं रक्खेंगे उन्हें तो अब मेम चाहिये। बिलायत के वातावरण ने उनकी प्रतिज्ञा पर पर्दा डाल दिया है, मैं अपने फूटे भाग्य को कोसने लगी।

आशा पर ही जीवन निर्भर है परन्तु आशा में विलम्ब ही निराशा का प्रथम रूप है। मैंने उसी दिन समझ लिया था जिस दिन से पत्र आने बन्द हुए थे। परन्तु मैंने उस साक्षात सत्य को देखा मेरा जीवन अकेला हो गया, नेत्रों के सामने निराशा का घना अन्धकार था और उसकी छाया में जगत की क्रूर लीला, मैंने उनके यहाँ जाने

का निश्चय किया; एक बार तो ध्यान आया कि जब उन्होंने मुझे छोड़ ही दिया—तो दर्शन तक न करूँगी। परन्तु "पति परमात्मा के समान है" यही सोच अपने अधिकारों को तिलान्जली देकर अभिमान को छोड़ पति के दर्शन हेतु होटल में पहुँची।"

"उस समय पतिदेव जलपान कर रहे थे, मुझे देखकर खड़े हो गये; मैंने देखा कि उनका रूप-रंग सभी कुछ तो बदल गया है। उनके नेत्रों में वह करुणा न थी जिसके लिये मैं अपने प्राणों की बाजी लगा देती थी। मैं उन्हें देखकर फूट-फूट कर रोने लगी, मेरा बच्चा भयभीत नेत्रों से अपने पिता की ओर ताकने लगा।"

"क्या आप मुझे बिल्कुल भूल गये? क्या आपने मेरे जीवन का कुछ भी मूल्य न समझा? आपने जाते समय कैसे २ वायदे किये थे क्या आप वह सब भूल गये? आपके पीछे मुझे कितना कष्ट भोगना पड़ा उसे मैं ही जानती हूँ; आपने मेरे साथ इस प्रकार का बदला क्यों लिया? मैंने आपका क्या बिगाड़ा? मेरे इस जीवन के साथ आपने मेरे सर पर एक बोझ डाल दिया।"

मैं रोती हुई उनके पैर पकड़ने को आगे बढ़ी परन्तु उन्होंने अपना पैर इस प्रकार खींच लिया मानों बिजली लगी हो और दूसरी ओर मुंह कर के कहा—

"अब तुम से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं।"

"नहीं!" शब्द में कठोरता थी।

"हृदय के टुकड़े २ होगये, इस वाणी के सुनने के पहले मैं मर जाती तो संतोष हुआ होता। मुझे ऐसा प्रतीत हुआ कि किसी ने मेरे पैर में कील ठोक दी हो। मैं स्तम्भित हो गयी कि क्यों और क्या सुन रही हूँ। नारी प्रेम के कारण सब कुछ सह

सकती है परन्तु अपने प्रेम का निरादर नहीं देख सकती ; उस अपमान का बदला लेने को नागिन का रूप धारण कर सकती है; चण्डी और कालिका बन सकती है। मुझे भी क्रोध आया परन्तु भारतीय मर्य्यादा का ध्यान करके खून का घूँट पीकर चुप होगई और बहुत ही नम्रता, दीनता से बोली—

"नाथ अब मैं इस बच्चे को लेकर कहाँ जाऊँ ? दुनियाँ मुझे कहीं स्थान देगी ? मुझे तो इन्हीं चरणों की रज चाहिये।"

"जहाँ तुम्हारी इच्छा हो ?"

"क्या यह आपका बच्चा नहीं है ?"

"नहीं ?" उनके शब्दों में कठोरता थी !

ओह-भगवान क्या तेरी सत्ता संसार पर नहीं है।

"नहीं······एक दिन यही मेरे पैर पकड़ते थे। मेरे न रहने पर व्याकुल हो जाया करते थे; मेरी एक वाणी पर अपना जीवन न्योछावर करने को तैयार रहते थे; और वही आज निष्ठुर पाषाण की भाँति अचल खड़े होकर अश्रु गिरने पर भी मौन हैं।"

मैं अब अपमान सहन न कर सकी सीमा का उल्लंघन सर्वदा हानिकारक होता है। पति······नहीं, नहीं इस मायावी जगत का एक पुरुष मेरा इतना निरादर करे और मैं उसकी आकांक्षाओं पर मरती रहूँ। मेरा स्वाभिमान जाग्रत हुआ; भीख मांग लूंगी; दूसरों की सेवा कर लूँगी परन्तु इस द्वार पर कभी न आऊंगी। प्रतिकार की ज्वाला धधकी और मैं उनकी ओर एक कड़ी निगाह डालती हुई लौट आई, लुटी हुई सी, दुख के भार से दबी हुई सी। तब से मैं न गई, न गई स्वप्न में भी विस्मृति में भी। और भीख माँग माँग लूँगी किसी भाँति अपना जीवन बिता

रही हूँ । क्या करूँ ? संसार में गरीबी एक अभिशाप है । अब किसी प्रकार अपने जीवन के दिन रो—रो कर काट रही हूँ ।"

स्त्री चुप होगई लता के सम्मुख नारी-जीवन का दुखांत इतिहास बड़े ही प्रभाव शाली रूप में व्यक्त हुआ उसे संसार से घृणा होने लगी……पुरुष अपने स्वार्थ के लिये नारी की पूजा करता है; उसके पैरों पर गिरता है किन्तु अपना स्वार्थ सिद्ध होने के पश्चात वह स्वयं स्वतन्त्र होकर अपनी इच्छाओं की पूर्ति करता है । और स्त्री को शासन के कठोर घेरे में बन्द करके उसकी फड़कती हुई आशाओं का बलिदान करता है । स्त्री हृदय को पत्थर की भाँति नीरस और अचल समझता है । उसे अपनी अभिलाषाओं का साधन तब तक बनाता है; जब तक कि उसका स्त्री से व्यक्तिगत स्वार्थ रहता है ।

लता ने म्लान मुख से पूछा—

"तुम्हारे पतिदेव का क्या नाम है ?"

"क्या बताऊँ !"

"बताओ भी तो सही मैं भी तो समझूंगी कि वह मनुष्य कितना पाखण्डी है ।"

"विनय कुमार अग्रवाल ।"

"क्या कहा ? मि० विनय कुमार ?" आश्चर्य की हलकी चीख उसके मुँह से निकल गई ।

"जी हाँ ! वही मेरे पतिदेव हैं ।"

लता के हृदय पर मानों किसी ने जलता अंगारा रख दिया । वह चौंक पड़ी—सहसा उसके मुँह से निकला—

"तो क्या मि० कुमार की तुम विवाहित-पत्नी हो ?"

"अब भी क्या आपको अविश्वास है। ठीक है। दीन का पक्ष सर्वदा निर्बल रहता है क्यों कि उसके पास केवल वाणी का सहारा है।"

लता को इन वाक्यों से बड़ी ठेस लगी उसका मस्तिष्क इस रहस्य का गम्भीर रूप लेकर घूमने लगा। उसने उस युवती को ढाढ़स बँधाया और शीघ्र उस जगह से निकल कर अपने बँगले में आ गई। रात्रि हो चुकी थी। वह निष्प्राण सी आकर धम्म से कोच पर बैठ गई। तकिये पर मस्तक रख कर लेट गई। कुछ देर तक उसे ऐसा ज्ञात हुआ कि उसके शरीर में शक्ति लेश-मात्र भी बाकी नहीं रही।

जब कुछ समय बीतने पर चेतना-परिष्कृत हुई तो वह युवती की बातों पर ध्यान करने लगी और सोचने लगी—कि मि० कुमार कितना बड़ा नीच और पातकी है। एक सुशील स्त्री का परित्याग करके मेरे रूप सौंदर्य को लूटना चाहता है। मुझे आज तेरा पाखण्ड मालूम हुआ। नारकीय, पापी तुझे नर्क में भी स्थान नहीं मिलेगा। तू एक का जीवन भ्रष्ट करके दूसरों का सतीत्व नष्ट करना चाहता है। सभ्यता की आढ़ में एक का गला दबोच करके दूसरे के चमकते हुए हार को भी छीनना चाहता है। लुटेरा-मजिस्ट्रेट। आज से यदि तूने मेरे मुँह पर मेरी प्रसंशा की तो मैं तेरे साथ बुरे से बुरा व्यवहार करूँगी तुझे धक्के देकर निकाल दूंगी। मेरे बिना तू रह नहीं सकता? आततायी पाखण्डी तू बातों के फेर में मेरे पिता को फुसलाकर मुझे अपनी विला-सिता का साधन बनाना चाहता है।

मैं तेरा ढोंग समझ गई। तेरा सारा भण्डा फोड़ कर दूंगी। ओह-यह विडम्बना। तूने आस्तीन में सर्प छिपा रक्खा

है। तेरा सारा गर्व चूर चूर कर दूंगी। तेरी आशाओं पर तुषार हो गिर जाऊँगी। तू एक सती साध्वी स्त्री के शाप से जल कर भस्मीभूत होगा! तूने जिस कपट का जाल बिछाया है उसमें स्वयं फँस कर अस्तित्व को खो देगा। तेरा रूप मिथ्या गर्व हिम की भाँति पिघल कर धूल के कण में समा जायेगा। दुष्टात्मा···।

वह क्रोध से; अपमान से; दीर्घ श्वासें लेने लगी। उसके नेत्रों से क्रोध के दो अश्रु बिन्दु पृथ्वी पर गिर पड़े।

———

पापी समाज

नारी और समाज !

पाप और पुण्य !

बड़ी ही कठिन समस्या है-समाज कहता है-नारी नरक की राह बतलाने वाली है-नारी के द्वारा ही मनुष्य पाप करता है— मनुष्य समाज निष्कपट है-उसमें दोष नहीं सभी दोष नारी में हैं !

इसी तरह के न जाने कितने वाक्य नारी जाति को दबा रखने के लिये गढ़ लिये गये हैं। पराधीन ! बहुत दिनों से दुर्दशा और आक्रमण ग्रस्त हिन्दू जाति की नारियाँ उक्त शब्दों को सुनते सुनते अभ्यस्त होगई हैं। उन्होंने वास्तव में अपने को दोषी और घोर पराधीन समझ लिया है।

"यह सब क्यों ? युवक ने मेरी आँखों में अपनी आखें डालते हुए पूछा !"

क्योंकि पुरुषों ने सदा से नारी जाति को दबा रखना चाहा है-पुरुषों की स्वार्थपरता का मैं ही एक ज्वलन्त उदाहरण हूँ मेरी ही जीवन घटना पर जरा ध्यान दीजिये-मुझे कुपथ पर चलने को समाज ने वाध्य किया-यह सब क्यों? दोषी है इसका सामाज !

शिक्षा का अभाव—सामने ही दुराचारियों का अधिवास धार्मिक शिक्षा की कमी–असंयमी, अशान्त, और घोर दुराचारी मृत्यु पथ गामी वृद्ध से विवाह और इन सबसे बढ़ते हुए नैहर और ससुराल दोनों में ही विधवा होते ही अत्याचार और हृदय वेधी वाक्य बाणों की बौछार–क्यों न हृदय उबल पड़े ? क्यों न प्रतिहिंसा जाग्रत हो उठे और किस कारण से यौवनावस्था में ही वृद्धाओं सा संयम का अभ्यास होजाय। मौसी के कथन पर ही यदि विश्वास किया जाता तो यह नौबत ही न आती उन्होंने ठीक कहा था कि इसका विवाह करदो-पर कौन सुनता—एक रोड़ा जो बन गया समाज। और समाज के पापी ठेकेदार जो स्वयं वासना के कीड़े होते हैं। या मुझे सास, पिता, भ्राता आदि प्यार से रखते तो मैं अपने असली दुख को भूल जाती या आरम्भ से ही मुझे धार्मिक और संयमी शिक्षा का प्रबन्ध होता तो क्या मेरी यह दुर्गति होती ?

पाठक ! स्मरण रक्खें—नारी जाति काम की पुतली नहीं है ! नारी जाति अपनी मर्यादा और संयम सहज में ही नहीं त्यागती—उसे नष्ट करता है समाज ! विधवापन में उसका ऊसर जीवन। घर वालों का उसे हीन समझ कर दुर्दशा पूर्ण व्यवहार !

और ये पुरुष !

नारी के सबसे बड़े शत्रु होते हैं—जो नारी में तो १६ गुणा काम का वास बताते हैं—पर स्वयं काम के पुतले ! स्वार्थ में सराबोर ! और समाज ने तो इन्हें और भी उद्दण्ड बना रक्खा है—जिन्होंने सारी दण्ड व्यवस्था का प्रयोग स्त्रियों पर ही लागू किया है !

भाभी और देवर !

कितना मनोहरतम सम्बन्ध है दोनों में—किन्तु तारानाथ को ही आप देखिये। किस प्रकार धोखे से मुझे बाग में ले जाकर मेरा सतीत्व भंग किया—आपने भी कभी सुनी है यह कहावत ? कि भाभी पर देवर का आधा हक होता है।

होता होगा—इस "पापी समाज" में—युगों से तो भाभी देवर का सम्बन्ध माँ-पुत्र के समान होता सुना है— इस पुरुष और इसके समाज की तो बात ही क्या है—वह जानते थे कि रामू नौकर की बात बनावटी। वह अच्छी तरह जानते थे कि माँ (यानी मेरी सास) का षड़यन्त्र बिलकुल बनावटी है जो दुर्दशा और बदनामी का कारण हो रहा है। पर क्यों उनके हृदय पर प्रभाव पढ़ने लगा ? वह प्यार भरी बातें तो एक भुलावा मात्र थीं न ? वह भली भाँति जानते थे कि उनका प्रेम ! प्रेम नहीं था—एक पिपासा एक वासना वह इस वासना पिपासा को भी जीवन भर कायम नहीं रख सकेंगे।

"पाप के पुतले ऐसे ही होते हैं !"

वे भविष्य नहीं सोचते। और मैं···मैं तो उस समय उसके चंगुल इस तरह आ फँसी थी जिस तरह एक बाज के हाथ में एक निरीह मैना !

भाग्य से कहिये या दुर्भाग्य से "रूप" मिल गया नहीं तो मैं तो उसी दिन अपने जीवन का अन्त ही कर देती—पर होता क्यों अन्त मेरे जीवन का -उसे तो यह सब देखना था—समुद्र के शीतल उर में कैसे छुपा सकती थी अपने को रूप ने ठीक कहा था चलो तुम्हें तुम्हारे पिता के पास चुपचाप पहुँचा दूं किन्तु मेरी वहां

जाने की इच्छा नहीं थी जब माँ के होते उसका प्यार न पा सकी तो अब मुझे कौन पूछने वाला है। किन्तु रूप ने मुझे ढाढ़स बँधाते हुये कहा—

"यदि इस समय मैं तुम्हें अपने घर ले जाऊंगा, तो तुम्हारी बदनामी होगी ! फिर दूसरी जगह इस घोर रात्रि में कहाँ ले जाऊं? यदि वहां तुम्हारा मन न लगे-या बने तो फिर तब तक अन्य प्रबन्ध कर लूंगा। तुम्हारा पिता जी के घर जाना ही ठीक रहेगा!"

सोचा भाग्य में दुख और अपमान के सिवाय और कुछ नहीं तभी तो सास ने घोर रात्रि के समय घर से निकाल दिया थोड़ा और सही। रूप के साथ घर आई-बड़ी कठिनाईयों के बाद दरवाजा खुला—पिताजी एकाएक एक स्थिति में मुझे पा-चकित हो गये। भाई भी घबड़ा गये पर—भाभी "रूप" को साथ देखकर मुस्कराने लगी। "रूप" मुझे पहुँचा, सक्षेप में ही किस्सा बता उसी समय चला गया। ऊपर जाकर पिताजी से सास, देवर का व्यवहार—सास का रामू के प्रति झूठा आरोप तथा कुसुम से कोमल शरीर पर मार के नीले निशान देख व सुन कर सभी सन्न रह गये। पिताजी अवश्य ससुराल वालों के प्रति नाराज हुये किन्तु रामू की घटना को सुनकर चुप-चाप चाबियों के गुच्छे से एक चाबी निकालकर देते हुए बोले—

"जाओ जाकर सो जाओ-सुबह देखा जाएगा।"

मैं जाने को मुड़ी ही थी कि भाभी बोल उठी—

"जब बात फूट गयी है और चार आदमियों को मालूम हो ही गयी है तो समाज इनकी बात पर विश्वास क्यों करेगा! हमें भी तो समाज में ही रहना है—हम भी जाति के बाहर निकाल दिये जायेंगे।"

समझ गई—मेरी सत्यता पर किसी को विश्वास नहीं शास्त्र मर्यादा मानने वाले क्या विधाता की बात का विश्वास कर सकते हैं ? यदि भरोसा ही होता तो क्या उन पर नाना प्रकार के आडम्बरों की, बन्धनों की रचना की जाती ? रात्रि भर मैं कोठरी में पड़ी-२ रोती रही। हाय ! कितनी विडम्बना दर्द के मारे प्राण व्याकुल हो रहे हैं। शरीर से खून चू रहा है पर कोई पूछने वाला नहीं। प्यास से कण्ठ सूख रहा है पर पानी किससे माँगूँ ?

किसी तरह सुबह की सुहावनी लाली पृथ्वी पर छिटकने लगी अभी सूर्य पूर्ण उदय हुआ ही था कि स्वयं बड़े देवर घर के अध्यक्ष एक जमादार को साथ लिये आ पहुँचे—पिता जी को पुकार मुझे और उन्हें दोनों को गालियाँ देते हुए मेरे मिथ्या गुप्त व्यभिचार और इसी अपराध पर मुझे घर से निकाल देने की बात चिल्ला २ कर करने लगे। जिस मकान में हम रहते थे उसमें और भी सभ्य किरायेदार थे सभी के समक्ष मेरी मिथ्या पाप-कथा स्पष्ट होगई—पिता जी के ऊपर तो सैकड़ों घड़े पानी पड़ गया—एक शब्द भी न निकला।

सीमा का उल्लघंन भी सदा हानि कारक होता है मैं भी अब अधिक सहन न कर सकी। नारी सभी अपमान देख सकती है पर जब उसके ऊपर झूठे आरोप और मिथ्या पाप-कथा थोपी जाय तो वह चुप न रह सकेगी। स्त्री नागिन का रूप भी धारण कर सकती है। मेरा भी स्वाभिमान जाग्रत हुआ—

मैं बाहर आ अपनी निरपराधिता, ससुराल वालों के षड़यन्त्र के विषय में कहने लगी—मेरे पति १ लाख रुपया मेरे

नाम से जमा कर गये थे—उन्हीं रुपयों को हथियाने को—हड़पने को मुझ पर यह झूठा आरोप लगाया है। रामू नौकर है—डरके मारे तथा इनके प्रलोभनों के कारण वह सत्य घटना स्वीकार ही नहीं करता। खूब रोई, चिल्लाई, पर हुआ वही—जो विधवाओं के सम्बन्ध में होता है—समाज के कीड़े ये पुरुष; फैसला और दण्ड व्यवस्था करने वाले वे ही नर-पुंगव हैं जिनके हृदय में दया और विश्वास लेश मात्र भी नहीं; जो यही समझते है कि विधवाएँ भी व्यभिचारिणी न होंगी तो कौन होगा। इतने बड़े रईस बा० प्रेमनाथ क्या झूठ बोलेंगे ? कितने ही दरिद्रों की रोटी इनके इशारे पर चलती है जो एक प्राणी को भी रोटी नहीं खिला सकते जो इतना बड़ा अपवाद लगाते—पर यह नहीं सोचते कि विधवा तो भय, संकोच और अपनी लाँछना के कारण बचती रहती है परन्तु विधवाओं से ज्यादा व्यभिचारिणी वे स्त्रियाँ होती हैं जिनके पति अपनी स्त्रियों की सन्तुष्टि की ओर ध्यान न देकर रातके २-२ बजे तक हिसाब किताब में ही मस्त रहते है। जो विवाहिता का प्रेम भूलकर बार वनिताओं के फेर में पड़े रहते हैं। जिनके यहाँ परायेपुरुषों से एकान्त सम्मिलन और वार्तालाप पर भी प्रतिबन्ध नहीं है साथ ही इस बात की भी कोई शिक्षा नहीं कि धर्म और सतीत्व किस चिड़िया का नाम है।

बा० प्रेमनाथ जी तो चले गये, परन्तु घर में एक आपदा सी आगई—सभी स्त्रियाँ एकत्रित हो काना फूसी करने लगीं—पुरुष ! मेरे सौंदर्य के कारण मेरी बदचलनी पर आवाज कसने लगे तथा कनखियों से मेरे रूप-सुधा का पान करने लगे। मानो ईश्वरविधवा इसीलिये बनाता है।

थोड़ी देर बाद पिता जी ने मुझे बुलाकर पूछा—

"लता तेरे ही कारण मेरा माथा नीचा हुआ है किन्तु यह एक लाख रुपये का क्या रहस्य है?"

"जिस समय उनका स्वर्गवास हुआ, उन्होंने एक लाख रुपया मेरे नाम से जमा कर दिया था," मैंने कहा। "किन्तु मैं इतनी शोकावस्था में थी कि भावावेश में उस कागज को जो उन्होंने मुझे दिया था—वहीं लैम्प पर रख कर भस्म करते हुए कहा—जब आपही नहीं रहे तो मैं इनका भी क्या करूँगी।"

किसी तरह दिन व्यतीत हुआ दोपहर को मुझे "रूप" का पत्र मिला।

प्रिय लता,

लक्षणों से प्रतीत होता है कि इस घर में तुम्हारा गुजारा नहीं होगा, मैं प्रतिक्षण तुम्हारा हाल चाल लेता रहूँगा। सब ठीक है। घबराने की आश्यकता नहीं है मैं हर प्रकार की सेवा को तत्पर हूँ।

तुम्हारा—

'रूप'

मैंने पत्र को पढ़ा कितना निस्वार्थ भाव का पत्र लिखा था; पर मैं पुरुषों से बहुत डरती थी बल्कि यह कहिए ज्यों ज्यों समय व्यतीत होता जाता त्यों त्यों मेरी प्रतिहिंसा पुरुषों के प्रति बढ़ती जाती थी।

संध्या समय पिताजी शेयर बाजार से लौटे तो क्या देखते हैं कि कई बुड्ढे और पुराने नेता, पुरोहित सब एक साथ दल

बादकर घर की ओर आ रहे हैं। पिताजी तो देखते ही कांप उठे भय्या खिजला उठे और भाभी! उन्होंने तिनकते हुये यह शब्द कह अपने कमरे में चली गई।

पिताजी ने बड़ी खातिर से कमरे में बिठाया मैं समझ गई कि बाबू प्रेमनाथ जी की वजह से मेरी मिथ्या पाप कथा बिरादरी वालों और इन पापी समाज के कीड़े पुरुष समाज में गढ दी गई है पिताजी ने पान मंगवाये पान का नाम सुनते ही उनमें से एक बोले—

"नहीं! नहीं! पान की कोई आवश्यकता नहीं है।"

"क्यों आज ऐसा क्यों?" पिता जी ने दबी जबान से पूछा—

"जब तक लता आपके घर रहेगी तब तक पान तो क्या हम पानी भी न पी सकेंगे।" उनमें से एक बोला! सुनकर मेरे हृदय में तो आग ही लग गई किन्तु पिताजी ने बड़े ही नम्र स्वर में कहा—

"आप मेरा विश्वास करिये—बा॰ प्रेमनाथ जी की सभी बातें बनावटी है—यह सब तो एक लाख रु॰ हजम करने की एक चाल है! लता निर्दोष है—उसके ऊपर मिथ्या पाप कथा गढ़ी गई है।

घन्टे भर तक काफी चक२ चलती रही अन्त में सभी ने यही फैसला दिया कि यदि आज आप उसे न निकाल देंगे तो आप सपरिवार बहिष्कृत कर दिये जायेंगे—समाज से।

पिताजी ने फिर भी आरजू मिन्नत की २–४ हजार रुपये भी खर्च करने की बात एक के कान में चुपके से कही किन्तु सब निरर्थक! सब अगरचय रोदन ही रहा।

अब सहन न हो सका सीमा का उल्लंघन भी सदा हानिकारक ही सिद्ध होता है—मैं सिहनी की तरह तड़प दरवाजा खोलकर खड़ी हो गई—

सोचकर अब तो डूबना ही है—एकबार देखूँ कि इनमें कितना दम है। मैंने गरज कर कहा—

"मैं अपने परिवार वालों को अपने ही कारण कोई कष्ट नहीं देनाचाहती—पर आपलोग मुझे क्या करने को कहते हैं; आप लोगों को यह विश्वास कैसे हुआ कि—मैं अपराधिन हूँ ?"

"हमने सब सुन लिया है ! अब और सुनना नहीं चाहते।" एक लम्बी दाढ़ी वाले ने अपनी मूंछों पर हाथ फेरते हुए कहा।

"यों नहीं आप रामू को बुलाइयेगा, पंचायत के सामने उससे कबूल करवाइयेगा—तब झूठ सच कुछ मालुम होगा। मैंने कहा।

"कितनी खतरनाक स्त्री है—बाप रे बाप। यह क्या नहीं कर सकती।" दूसरे ने अपनी दलील दी।

"आप लोगों के अन्याय और अविचार के कारण ही मुझे आप लोगों के सामने आना पड़ा—जरा न्याय कीजिये—आप लोग पंच के पद पर हैं—न्याय का गला न घोटें।" मैंने अपनी सारी शक्ति बटोर कर कहा।

"ऐसी स्त्री से तो भाषण करना भी पाप है ! मुँह देखना भारी कलंक !!" एक अ धेड़ सजेधजे समाज के सरपंच प्रभूदयाल जी ने हाथ नचाते हुए कहा।

"अवश्य ! परन्तु उन पापियों का मुँह देखना और संसर्ग करना तो पाप नहीं है ? जो ४-४ रखेलियां और वैश्याएँ रखकर दोगली संतान पैदा करते हैं। वे तथा उनसे संसर्ग रखने वाले

पापी क्यों नहीं समाज से निकाल बाहर किये जाते ? स्वयं दुराचार कर स्त्रियों को नष्ट करना और निरपराधियों को दण्ड देना ही पंचों का काम है ?" उनमें से दो चार ऐसे दुराचारी थे जिनके पास मेरे प्रश्न का कोई उत्तर न था—जो उत्तर मिला भी वह इतना ही उचित था; जैसा की समाज के पापी ठेकेदारों के मुँह से अक्सर सुना जाता है—

"पुरुषों को सब अधिकार है ! पुरुष जाति पवित्र है ।"

ठीक है—इसीलिए तो स्त्रियाँ समाज से बहिष्कृत कर दूध से मक्खी की भाँति निकाल कर फेंक दी जाती हैं—किन्तु पुरुष—यह तो समस्त दुराचारों की पगड़ी बांधे समाज में निर्द्वन्द घूमा करता है—उसके लिये कोई न्याय नहीं—कोई अन्याय नहीं—यही है पापी समाज ! और उसका न्याय !! फिर भी मैंने बड़ी नम्रता से पूछा—

"आप लोगों का न्याय मेरी समझ में पूर्ण रूप से आगया है पर अब आप कृपाकर यह तो बताइये कि जब ससुराल से निकाल दी गई तब उस सम्पत्ति में से कुछ भी न पा सकी; और पिता को त्याग देने का उपदेश दे रहे हैं आप ! फिर मैं कहां रहूँ ? क्या करूँ ? और मेरी जीविका किस प्रकार चलेगी ?"

सब ने एक स्वर में कहा—"इस बात की जुम्मेदारी हम लोगों पर नहीं ।"

इसके उपरान्त मैंने बड़ी नम्रता से पूछा—" क्या आप सब लोग मुझे वैश्यावृति की आज्ञा देते हैं ?"

एक स्वर में सबने कहा—"पापिन स्त्रियाँ और करती ही क्या हैं !" उत्तर सुनकर मन तृप्त होगया; दरवाजा छोड़कर हट गई सब उठकर चले गये; सोचा देश में वैश्याओं की वृद्धि के प्रधान सहायक यही हैं ।

जाकर कोठरी में पड़ गई; और पड़ी-पड़ी रोती रही; इस समय रात्रि के बारह बजे थे रात्रि सर्वदा की काल रात्रि अपने यौवन की छटा दिखा रही थी। इसी समय उठ कर पिताजी के नाम एक पत्र लिखा और लिखने के पश्चात पत्र को वहीं खाट पर रख मैंबाहर आगई।

बाहर गाड़ी लिए"रूप" खड़ा था;और उसी समय हम पाप भरी दुनियाँ को त्याग "पापी समाज" के प्रति एक चोट लिये दूर-बहुत दूर नये बंगले में चले आये जिसमें कि रूप ने दो कमरे किराये पर लिए हुए थे मेरे लिये।

अब मैं वहीं रहने लगी,जीवन धारा का नवीन पहिया फिर से समाज के नाम पर चलने लगा।

\+ \+ \+

कौन जानता है समाज की ठुकराई हुई लता ही आज बम्बई की सर्व श्रेष्ठ नृर्तकी, सेठ साहूकारों की चहेती बनी हुई है। जिसका रूप लावण्य बम्बई की मुख्य चर्चा का बिषय बन रहा था बड़े-बड़े राजा-महाराजा; सेठ-साहूकार, उसके चरणों में अपना मस्तक रगड़ने में भी अपना गौरव समझते थे। पुरुषों के दल मानों भोरा बनकर उसके ऊपर टूटा सा पड़ रहा था;किसी भी रईस की महफिल उसकी अनुपस्थिती में सूनो रहती थी। उसके स्वर में एक अजीब लहर थी; जिसे सुनकर कौन ऐसा पुरुष था जो पागल, व दीवाना न हो उठे। जिस समय वह अलाप लेती थी तो स्वर्ग की अप्सरायें भी चकित हो देखती रह जाती; वह स्वयचकित थी; अपने इन तीन वर्ष के परिर्वतन में उसकी अपनी खुदकी तीन कारें व दो कोठियां थी; वैभव तो उसके यहां नृत्य कर रहा था। जिससमय वह "पापीसमाज" के ठेकेदारों को अपने चरणों में लोटती देखती उस समय उसका हृदय प्रसन्नता से पागल हो

उठता वह मुस्कराने लगती लेकिन उसकी अजीब मुस्कराहट का रहस्य कोई नहीं जान पाता "रूप" उसी के साथ रहता था उसने घर वगैरह सब छोड़ दिया था लता भी उससे कुछ स्नेह नहीं- प्रेम करने लगी थी।

\+ \+ \+

"कौन है,,! पलट कर मैंने देखा अरे-मिसराइन तुम ! "हाँ बीवी रानी ! तुम्हें अक्सर मैं लक्ष्मीनारायण के मन्दिर से लौटती देखती हूँ; लेकिन तुम रहती कहाँ हो ? घर पर तो तुम्हें कोई याद नहीं करता तुम्हारे पिताजी ने अपना दूसरा विवाह भी कर लिया है। शेयर बाजार से आमदनी भी अच्छी हो रही है, और हाँ बाबू प्रेमनाथ जी से तुम्हें निकाल देने के कारण २५००० रु० भी मिलगये हैं ! और अब तो कई २ दिन तक रात में घर से बाहर भी रहते हैं; बड़ीबहू जी ने बतलाया है कि वह कुछ पीने भी लगे हैं,, पिता जी के अधिपतन का समाचार सुन इस अवस्था में भी बहुत दुख हुआ १० रु० मिसराइन को देते हुए मैंने कहा- "कि अब तुम जाओ" उसने आशीर्वाद दिया "तुम जहां भी रहो वहां प्रसन्न ही रहो"। उसका आशीर्वाद सुन कर हृदय चलनी हो गया। कोठी आकर देखा तो मैं अचम्भे में रह गई ; देखा कि अपने मित्र को साथ ले कर वहीं पंचराज आ पहुंचे- जिन्होंने उसी दिन पिताजी से कहा था — कि जब तक यह लड़की घर रहेगी तब तक आपके यहाँ का मैं पान तक नहीं खा सकता"। नहीं कह सकती कि उन्होंने मुझे पहिचाना या नहीं। यह मैं नहीं जानती ! मैं केवल इतना अवश्य जानती थीकि जो पुरुष इस प्रकार दूसरों को कहते हैं भगवान

की कृपा से ऐसे मनुष्यों की आखों पर हमेशा पाप का चश्मा चढ़ा रहता है पर मैं उन्हें देखते ही पहिचान गई और हांफते हुऐ आ कर फर्श पर बैठ गई। वे बोले—

"उसदिन लक्ष्मीनारायण के मन्दिर में आपको देखा है तब से ही मैं आपको देखने के लिए तरस रहा हूँ।"

मैंने पानदान से पान निकाल कर, खूब सजा कर उस पर स्वर्ण का वर्क लगा कर, एक चाँदी की तश्तरी में रख कर हाथ बढ़ाते हुए कहा—

"लीजिये पान खाइये ? मैं तो आप लोगों की सेवा करने के लिए सदैव तैयार हूँ।

इनका नाम प्रभुदयाल था। सरपंच कहलाते थे, कपड़े के बहुत बड़े व्यवसायी थे; समाज में इनकी धाक थी, लोग इनके न्याय से थर-थर कांपते थे। प्रभुदयाल ने पान की तश्तरी खींचते हुए एक-२ पान अपने साथियों को देते हुए और स्वयं खाकर कहा—"बहुत बढ़िया पान लगाती हो।"

मैंने उन्हें धन्यवाद देते हुए कहा- "जैसे देवता वैसी ही पूजा होती है न ? आप ठहरे सरपंच ! आपको क्या घटिया बीड़ी अर्पण किया जा सकता है जात से ही निकाल दी जाऊँ !

प्रभुदयाल जी चौंक पड़े—"बोले—तुम्हें कैसे मालूम हुआ कि मैं कौन हूँ।" मैं बोली—"इन बातों को जान कर क्या कीजियेगा आप लोगों की कृपा से और दण्ड विधान से मेरी जाति वालियों की संख्या अधिक बढ़ती जारही है, फिर बताइये ! आप छिपे रह सकते हैं ?

मैंने दासी को बुलाकर कहा-"जरा मेरी सितार दे जाना" फिर प्रभुदयाल जी की ओर देखकर पूछा—आज आप इधर क्यों भटक पड़े ! आपकी "प्रिया" आज कहां है ?"

यह दूसरे पते की बात थी "आशा" इनकीरखेली का नाम था। बोले-"तुम तो मेरे रग-रग से परिचित प्रतीत होती हो आशा की खबर तुम्हें कैसे मिली? भई सच तो यह है कि जब से तुम्हें देखा; है तब से सारी दुनिया भूल बैठा हूँ। फिर वह तो पुरानी बासी फूल होगई है। बासी फूल में कब तक सुगन्ध आसकती है। अब तो तुम्हें अपनी बनाकर रखना चाहता हूँ मैंने कहा-मुझे नौकर रखेंगे। कम से कम सात हजार रुपया महीना और खर्चा-प्रभूदयाल राजी होगये। मैंने-"कहा यों नहीं एकदूसरे सज्जन से भी बात होगई है। पर आप अधिक रसिक और शहर के सरपंच; सरपंच की सेवा करना मैं अपना कर्त्तव्य समझती हूँ। अतः आप लिखा पढ़ी कर दीजियेगा। पुर्जा लिख दीजियेगा।

देखिये— जरा व्यसन का रूप पतन का रूप इतने बड़े बुद्धिमान अदमी ने बिना सोचे समझे एक पत्र लिख दिया और सौ-सौ के पन्द्रह नोट देकर कहा-"ऐसे नहीं यह आप अपना बयान ले लीजियेगा।

मैंने नोटों को रखते हुए कहा-कल आइयेगा। बतायेगान! कि कल किस समय आवेंगे? आपको नित्य प्रति देखे बिना हृदय नही मानेगा।" प्रभूदयाल ने हँसते हुऐ सात बजे आने का वायदा किया और चले गये। इस समय मेरा मन खौल रहा था जिस तरह मेरी सास ने मुझे झाड़ूओं से मार कर घर से बाहर निकाल दिया था ठीक उसी तरह इस प्रभूदयाल को भी घर से निकाल कर अपने उस अपमान का बदला लेना चाहती थी; जो मेरे घर पर इन्होंने मेरा और सब घर वालों का किया था। परन्तु अभी वह समय नहीं! आया था यही सोच कर हृदय को शान्त किया।

"अच्छा तो आशा अब चलती हूँ- कल तुम ठीक समय पर आजाना- और अपने प्रेमी को सहेज कर ले आना- मैं नहीं चाहती कि किसीकी अमानत और रहे किसी दूसरे के पहलू में!" "लता ने स्नेह से उसके बालों में हाथ फेरते हुए कहा।

"सच कह रही हो लता दीदी यदि! तुमने मुझे बचा लिया-देखो न! मैं तो सिवाय उन के किसी सज्जन से बात नहीं करती- इस नरक कुण्ड में भी एक की बन कर रहने की शपथ खाई थी सो आज ३ वर्ष से निभा रही हूँ- मुझे तो स्वप्न में भी विश्वास नहीं था कि प्रभूदयाल भी ऐसे निकलेंगे।" आशा की आँखों में आसू उमड़ पड़े थे लता के स्नेह को पाकर।

"तुम चिन्ता न करो आशा! मैं उन्हें वह सबक सिखाऊंगी कि वह भी जीवन भर याद रक्खेंगे। किन्तु ध्यान रखना जब तक तुम्हें मैं न बुलाऊं अन्दर के कमरे से न आनासमझो!" प्यार की एक चपत लगाते हुए कहा लता ने।

"ठीक है; जैसा तुम कहोगी वैसा ही होगा!"

"अच्छा अब मैं जाती हूँ-संध्या के ७ बजे का ध्यान रखना।

× × ×

"अच्छा तो! गालिब की वह गजल तो सुनाओ— कहते हैं कि गालिब का अन्दाजे: बयाँ और!" प्रभूदयाल ने मेरी ठोढ़ी को अपने हाथ से ऊंचा करते हुऐ कहा:—

"सुनिये!" मैंने अपनी आँखों को ४५ अंश की कोण बनाकर देखते हुए कहा! और संगीत की मधुर लहरी गूंज उठी जिस समय मैं अलापें भरती, प्रभूदयाल वाह-वाह- करने लगते

क्या गला पाया है खुदा कसम—मुँह चूम लेने को जी चाहता है—गजल समाप्त होगई—

मैं धीरे से प्रभूदयाल जी के पास खिसक आई—मुझे अपने पास आते देख नीच पापी सोचने लगा कि शायद मैं उससे प्रभावित होकर उससे प्यार करने लगी हूँ कहने लगा—

तुम्हारी कसम लते ! तुम्हारी भोली सूरत ने तो मुझे अपना दीवाना बना लिया है—और यह तुम्हारी रस भरी आँखे तो मुझे मारे डालती···नहीं नहीं···आँखों से इस भाँति न देखो वरना मैं जीवित ही न रहूँगा···आह ! क्या भोलापन है तुम्हें मैं बयान नहीं कर सकता···

मैंने अपनी आँखों को और भी मदभरी बनाते हुए—उसके हाथ को अपने हाथ में लेते हुए पूछा !

"तो क्या तुम सचमुच मुझसे प्यार करते हो ?"

"तुम्हारी कसम !" और प्रभूदयाल ने लता को अपनी ओर खींचने का असफल प्रयास किया !

"यह क्या करते हो जी ! मेरी कलाई में इस प्रकार दर्द होने लगेगा—अच्छा एक बात बताओ !" मैंने अपने शरीर को नीचा करते हुए पूछा ?

"पूछो ?" मेरी चोटी को अपनी कलाई में लपेटते हुए प्रभूदयाल ने कहा।

"तुम मुझ से वास्तव में प्रेम करते हो ?" यदि प्रेम करते हो तो क्या शादी भी कर सकते हो ? ठीक बताना तुम्हें मेरी शपथ है।" मैंने अपना शरीर उसकी गोद में डालते हुए पूछा।

"शादी······शादी···तुम्हारा मतलब है कि विवाह···" जल्दी से "अवश्य कर सकता हूँ···क्यों नहीं जब प्यार है तो विवाह करने से मुझे क्या ऐतराज हो सकता है।"

प्रभूदयाल के कुछ शब्द मुँह से निकले ही थे कि मैंने अन्दर के कमरे में छुपी आशा को इशारा कर दिया वह भी बड़ी मुश्किल से मेरी व उसकी बातें खूनका सा घूँट पीती हुई सुन रही थी। उसको देखते ही प्रभूदयाल की जान सी निकल गई—आशा ने तमक कर कहा

"लता दीदी ! तुम इनकी बात का विश्वास कर रही हो ! इन्होंने मुझे भी यही वचन दिया था ?"

"लता तुम इसका विश्वास न करना—यह झूठी है—यह तुम्हें देख कर जलती है—तुम्हारी प्रतिभा से पूरी बम्बई जलती है—तुम्हारे सौन्दर्य ने……

बीच में, कड़क कर मैं गरज उठी—

"तुम झूठे हो—तुम्हें युगों युगों तक नरक में जलना पड़ेगा वासना के कीड़े ! तुम प्रेम क्या जानो ! तुम अपने लिये जीते हो—ममत्व ही तुम्हारा केन्द्र है। तुम प्रेम करना क्या जानो —तुम जानते हो भोली भाली अनाथ युवतियों को समाज से बहिष्कृत कराकर दर दर की ठोकरें खिलाना—और जानते हो उन्हें घर से निकलवा कर वैश्याएँ बनाना—पापी—नीच तुम्हें नरक में भी स्थान नहीं मिलेगा—मुझे पहिचान नीच मैं वही लता हूँ जिसे तुमने पिता के घर से यह कहकर निकल जाने को मजबूर किया था—कि यदि यह लड़की तुम्हारे घर में रहेगी तो हम पान तो क्या पानी भी छूना पाप समझेंगे—और आज—आज उसी लता से तुम विवाह करने का ढोंग कर लूटने का प्रयास कर रहे थे नारकीय पापी—समाज को तुम जैसे नीच, कमीन, दोगले पुरुषों ने ही बदनाम कर रक्खा है। पापी प्रेम

करना तुम क्या जानो—प्रेम बलिदान है आत्मत्याग ही ममत्व का विस्मरण है— तुम्हारी साधना आराधना यह सब धोखा है सत्य से कोसों दूर तुम अपनी तुष्टि के वास्ते गृहस्थ आश्रम की बाधाओं से कायरता पूर्ण वैश्यागामी का ढोंग लेकर विश्व को धोखा देते हुए मुँह मोड़ सकते हो ! तुम अपनी वासना की पूर्ति के लिये इस "आशा" को जो गत तीन वर्षों से सिर्फ तुम्हें ही अपना पति मानती चली आरही है-इस नरककुण्ड में रह कर भी तुम्हें मनुष्य नहीं देवता मानकर तुम्हारे ही चरणों में अपने को लुटा रही है— पर तुम मुझे धोखा नहीं दे सकते निकल जाओ मैं तुम्हें मार कर इस घर से निकालूँ उससे पहिले अपने यह १५००) लेकर व अपनी आशा को लेकर यहाँ से चले जाओ—यही मेरा प्रतिशोध है—यदि तुमने इसमें जरा भी अपनी बदमाशी की तो मैं यह राज सारे समाज में सारे विश्व में जाहिर कर दूँगी—पापी भाग निकल यहाँ से ?"

और मैंने घृणा से उसकी ओर से मुँह मोड़ लिया। प्रभूदयाल ने बड़ी दीनता से आशा की ओर देखा उसकी आंखों से आँसू की धार बह रही थी। आशा ने बढ़कर प्रभूदयाल का हाथ पकड़ते हुए कहा "चलिये नाथ ! आपका घर आपकी राह देख रहा है।" प्रभूदयाल बड़ी मुश्किल से अपने को साध रहे थे—घिसटते २ वह उस कमरे से उस कोठी के बाहर निकल कर आशा के घर की ओर चले गये।

मैंने प्रभूदयाल को अपमानित किया लेकिन मेरा हृदय इससे और भी अधिक पुरुषों के प्रति जलने लगा है।

"लेकिन मेरी रानी ! यह तो बताओ कि अब कब तक इस विरह की अग्नि में जलती रहोगी। मेरी राय में तो तुम

अपने देवर तारानाथ से शादी कर डालो—देखो—इस अखबार को—तारानाथ जी इस समय १०-१२ लाख की सम्पत्ति के एक मात्र मालिक हैं, प्रेमनाथ जी का हृदय रुक जाने से स्वर्गवास हो गया है और उनकी माता बद्रीनाथ जी गई और लौट कर वापिस नहीं आई।" युवक ने युवती के बालों पर प्रेम से हाथ फेरते हुए कहा।

"इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि तारानाथ जी को मुझसे प्रेम हो ही ?" युवती ने बड़ी सरलता से पूछा।

"अरी पगली! वह अब भी तुम से प्रेम करता है वह मेरा मित्र है—उसने स्वयं एक दिन कहा था कि "भाभी न जाने कहां होगी—मैं तो अब भी उसके विरह में जल रहा हूँ—पता नहीं कहाँ किस दशा में होगी—यदि उन्हें पा जाऊं तो उनके कदमों में अपना सिर रख उनसे अपनी भूल की माफी मांगूँ—हालाँकि मेरी भूल नहीं है—मैं उस समय मजबूर था—माँ और भाई के कारण उफ नहीं कर सकता था—लेकिन क्या होता है—अब इन बातों से।" युवक ने युवती की आँखों में अपनी आँखें डालकर उनमें डूबते हुए कहा।

"सच।" युवती ने आश्चर्य से कहा—"मैं ..मैं अब पा जाऊँ तो अपना जीवन उन पर न्योछावर कर दूँ। पर वह मुझे इस दशा में स्वीकार कैसे करेंगे ?"

"करेंगे—अवश्य स्वीकार करेंगे—मैं उसे अच्छी तरह पहिचानता हूँ—आज का युग बहुत आगे बढ़ चुका है—अब समाज में तारानाथ जैसे युवक की बड़ी आवश्यकता है। युवक ने अपना पसीना पोंछते हुए पूछा—क्या तुम पहिचान भी सकोगी।"

"क्यों नहीं जिसे अपना जीवन धन समझ कर मैंने अपना प्यार, यौवन, सभी उड़ेल दिया था उस समय—उस बाग में—क्या मैं भूल सकती हूं—उस घड़ीको।" अतीत की याद में युवती की आँखों से आँसू ढुलक गये। उसने अपना मुंह नीचा कर अपने आँसूओं को रोकने का असफल प्रयास किया। किन्तु इस क्रिया से उसके आँसू तेजी से बहने लगे—और हिच-कियाँ बँध गई।

"तुमने कहां पहिचाना भाभी। इस पापी को!" युवक ने अपनी मूँछ व बनावटी दाढ़ी को नोंचते हुए-कहा"मैं तो तुम्हारा पता लगाते २ पागल हो गया—मेरी अच्छी भाभी। मेरी लता!" युवक की आँखों से आँसू बहकर उसके कपड़ों को तर करने लगे।

"मेरे अच्छे नाथ! क्या मुझ अभागिन को अपने हृदय में नहीं नहीं...अपने चरणों में स्थान दोगे—बोलो...जवाब दो! युवती की हिचकियाँ रुक गईं—वह हिचकियां खुशी की थीं या दुख की कहा नहीं जा सकता।"

"मेरी लता.........।"

युवती चरणों में झुकने जा रही थी कि युवक ने उसे बाहुपाश में लेते हुए कहा—

"तुम्हारा स्थान.......यह नहीं मेरा हृदय है।

ऊषा

जगदीश को अपनी विचित्रता पर हँसी आए बिना न रही। बिना रोजगार बैठे इस युवक को आखिर किसी धन्धे की आवश्यकता थी ही, उसके अनुभव का व पसन्द का पत्रकारिता का धन्धा उसकी दृष्टि के समक्ष उपस्थित हुआ; उसे हाथ लम्बा कर प्राप्त करने की ही देर थी। फिर किस लिए उसे ठुकरा दिया? उसकी नीति किसी ने तय न की थी; उसके स्थापक को किस पक्ष का समर्थन करना था। यह भी उसे न बताया गया फिर उसे क्यों न पसन्द किया?

उसकी गुजर 'ओमी' ही चलाती थी। यह जगदीश जानता था। गहने बेचकर रुपये लाते उसने उसे कईबार अपनी आँखों से देखा था। उसकी बीमारी में कितना रु० खर्च हुआ। यह सब वह कहां से लाई उसकी दृष्टि से छिपा नहीं था। इसका उसे कई बार संकोच हुआ था, जगदीश को जरा भी संकोच न हो इसका वह बहुत ख्याल रखती थी। बीमारी से जब वह उठा तो कई प्रसंग उसकी स्मृति में उठे; उसे खाना अच्छा नहीं लगता, इसीलिए तो 'ओमी' कुछ खाने के लिए कितनी तरह

अनुरोध करती थी। एक दिन तो जगदीश को कितनी आत्मग्लानि हुई। अस्वस्थ मनुष्य को अच्छी लगने वाली हल्की स्वादिष्ट चीजों से भरी थाली उसके पास रख कर बैठगई। जगदीश थाली को सामने देखता हुआ बैठ गया। इस समय उसे अपनी स्थिति से घृणा हुई। हाथ बढ़ा कर एक ग्रास खाने तक की इच्छा नष्ट होगई। जगदीश को देखती हुई 'ओमी' मीठे स्वर में बोली—"यह क्या? क्या ग्रास मैं दूं?"

और उसने अपने हाथ से एक चीज उठाई, जगदीश के मुहँ तक ही लेगई कि जगदीश की आँखों से आँसू ढुलक कर गाल पर बहने लगे।

"अरे अरे; अरे आपको क्या हुआ है, मैं ही मर जाऊँ जो आँखों में आंसू लाओ तो?"

अपनी साड़ी के पल्लू से अपने जीवन-धन के आंसू पोंछे परन्तु इस कार्य से रुके आँसू भी निकल पड़े आमी का मन उदास होगया; वह भयभीत होगई; उसे कहने को कुछ भी न सूझा। पति की आंखों में आंसू देखकर उसका हृदय भी उबल पड़ा आंखों से टप टप आंसू गिरने लगे।

जगदीश ने देखा; वह स्वस्थ हुआ आंखों के आँसुओं को रोक कर बरबस मुस्कराया

"ओ, मा! मैंने तो कभी आपकी आंखें भीगी नहीं देखी मुझे जिन्दा रखना है तो आज सौगन्ध खाओ कि आज से फिर कभी आंखों में आंसू न लाओगे।" उसने अपनी आंखों को पोंछते हुए कहा।

"मेरी ओमी! तुम मुझे भी तो कुछ कहने दो?"

"नहीं प्रथम खालो, फिर मैं तुम्हारी बात सुनूँगी ?" यह कह कर उसने मुँह में एक ग्रास दे दिया !

जगदीश ने वह कौर तो जैसे तैसे खाया; परन्तु अपनी प्रिया पत्नी की प्रेम भावना आज उसे असह्य होगई थी उसने आंखें स्थिर कर कहा—

"ओमी। एक दिन तो तुम मेरा तिरस्कार करो, एक बार तो मुझे मनाने का मौका दो !

"अरे ! पर यह सब किसलिए। आज तुम्हें क्या हुआ !"

"मानो कुछ समझती ही नहीं, ! तुमने मुझ अभागे से क्यों विवाह किया। और किया तो इतना प्रेम क्यों करती हो ? प्यार से मैं घायल हुआ जाता हूँ। एक बार तो रूठो एक बार तो मुझे मनाने का अवसर दो। इसके बिना मुझे शान्ति न मिलेगी ?"

"ओमी ने अपने होठों को थोड़ा सा दबाया फिर जरा हँसी और मुस्करा कर बोली—

"ऐसी तो पिछले वर्ष तुमने मेरे विषय में एक कविता लिखी थी उसे बराबर चार दिन तक तुमने समझाया पर मैं कुछ न समझी ! याद है न ?"

अपनी प्रशंसा की बात न समझना और न बढ़ाना इसका उसने निश्चय कर लिया था। वह ऐसे समय ना समझ बन कर हँस देती या दूसरी बातों को छेड़ देती और अपनी प्रशंसा करने का मौका जगदीश को नहीं देती। बिना दिखाव बनाव के, पति के ही लिये जीने वाली और पति को ही सर्वस्व मानने वाली पत्नी, को कौन जाने पति में ही परमात्मा दिखाई देता था उसके

जीवन में मानों वह अनिवार्य हो गई थी। पत्नि और गृह इन दोनों का परिचय विस्तृत है। पत्नि से दूर और घर से बाहर आनन्द पाने की पति को बड़ी इच्छा होती है किन्तु जगदीश इसका अपवाद था। लम्बे परिचय ने उसे पत्नि और घर में ही आनन्द प्राप्त करने वाला बनाया था। वह पत्नि को ज्यों ज्यों खुशी बनाने की योजनायें बनाता था ज्यों २ उसकी योजनायें भंग हो जाती। किन्तु तब भी उसकी कोकिला उसकी इच्छानुसार अधिकाधिक खुशी बन जाती। अपने सुख देने अशक्ति के बदले "ओमी" को सुख मिलने की शक्ति बदस्तूर खिलती जाती थी।

घूम कर वापिस आते समय "जगदीश" को ऐसी कितनी ही घटनायें स्मरण हो आईं। विचारों के ज्वलन्त चित्र देखते देखते वह ठीक घर के पास आगया "ओमी" ने खिड़की से उसे देखा और अपनी आदत के अनुसार नीचे लेने को आने लगी।

जगदीश ने जैसे ही घर की पगडन्डी पर पैर रक्खा तैसे ही किसी ने उसके कन्धे पर हाथ रखा। उसने घूम कर देखा कि एक आदमी हाँफ रहा है क्यों कि भाग कर आया था। उसने एक कागज जगदीश को दिया और चलता बना उसमें लिखा था—

"प्रिय जगदीश;

तुम जहाँ भी हो जल्दी से जल्दी भागकर छिपने का प्रयत्न करो औफिस से १० हजार रुपयों की गड्डी गायब है तुम आज नौकरी के कारण मिलने आये थे इस कारण तुम पर शक है। पुलिस तुम्हारी तलाश में तुम्हारे पीछे है! शीघ्र कहीं भागकर छिप जाओ! ज्यादा पूछते न रहना।

तुम्हारा मित्र

"हरीश"

उसे ऐसा लगा मानो आसमान टूट पड़ा, उसकी कुछ समझ में न आया दस कदम पर "ओमी" है. उससे बिना मिले चला जाऊँ ? पर मिलकर भी क्या कहूँगा।

एक क्षण में ही बहुत कुछ सोच गया। घर की ओर कदम रखना या आगे भागना: इन दोनों निश्चयों के बीच, क्षण भर खिचा हुआ था ! उसी क्षण दूसरा आदमी आया—

"आपको पत्र मिला ?"

"हाँ ! जगदीश ने यन्त्रवत् कहा।"

"फिर खड़े क्यों हो ? पीछे पुलिस है; चलते बनो !"

"जगदीश ने कदम बढ़ाये और चलता बना। पन्द्रह कदम ही बढ़ा होगा कि मोटर पीछे से आकर खड़ी होगई। मुड कर पीछे देखा मोटर में बैठी "ऊषा" उससे पूछने लगी !

"कहाँ जा रहे हो ?"

"योंही शहर के बाहर जा रहा हूँ।"

"जल्दी जाने की उसको जरूरत थी सिर्फ तेजी से चलने का उद्देश्य था अकस्मात मिली हुई मोटर का लाभ प्राप्त करने की उसको इच्छा हुई और ऊषा का आमन्त्रण स्वीकार कर वह मोटर में तुरन्त बैठ गया शौफर ने गाड़ी बढ़ादी।

"तुम हाल में ही तो बीमारी से उठे हो घूमने जाने की जरूरत हुआ करे तो मोटर या गाड़ी कुछ भी मँगा लिया करो इसमें शर्माने की क्या जरूरत है ?"

"इससे आपको तकलीफ होगी न।" कोई अन्य उत्तर न मिलने पर जगदीश ने कहा

"इसमें तकलीफ कैसी ? साधन का दूसरा उपभोग भी क्या होना है। अब बिना संकोच किये मँगा लिया करो !

थोड़ी देर दोनों चुप रहे, मोटर आगे बढ़ती चली जा रही थी जगदीश को ऐसा मालूम हुआ कि ऊषा के नेत्र एक बगल से उसे झाँक रहे हैं। कोई छुपे तौर पर अपने को देखता हो तो मनुष्य को शर्म महसूस होती है। जगदीश ने संकोच से अपने एक पैर पर दूसरा पैर रखकर शर्म के प्रतिकार का निष्फल प्रयास किया ! परन्तु ऐसा करने से आराम से बैठी हुई ऊषा का पैर छू गया। कहीं अपने प्रति बुरा भाव पैदा न हो जाय ऐसा सोचकर जगदीश ने बात चीत का प्रसंग शुरू किया !

"कौन्सिल के चुनाव का परिणाम कब निकलेगा ?"

"दो सप्ताह में ! आप तो हमारे काम नहीं आये ?" ऊषा ने उलाहने के तौर पर कहा।

"क्या करूँ मेरे सिद्धान्त ही अलग हैं दूसरे मेरी तबियत भी खराब होगयी।"

"अभी तो आपकी बहुत जरूरत पड़ेगी ! कौन्सिल में उनके हो जाने के बाद लिखने पढ़ने का कार्य बाकी रहेगा। मुझे भी अपना अध्ययन आगे बढ़ाना है। कौन्सिल में धनवान निर्वाचित हो तो बेकारों को रोजगार मिलने के साधन बढ़ ही जाते हैं।"

"इसमें कोई सन्देह नहीं, सेठ साहब अवश्य चुने जायेंगे इस विषय में किसी योग्य आदमी की आवश्यकता है !"

"उनका चुना जाना तो तय ही है अन्य जो भी मनुष्य मुकाबले में खड़े हुए थे वह सब अपने आप ही रह गये अब अकेले ही तो हैं ! और देखिये तब आपको मुझे अंग्रेजी भी सिखानी पड़ेगी !" ऊषा ने शर्म से अपनी चन्द्र सी आंखों के पलकों को नीचे झुकाते हुए कहा !

एक चौराहे पर सिपाही को देखकर जगदीश को ख्याल आया कि वह पुलिस की निगाह में तो भागता फिरता मुजरिम है। उसके मुखारविन्द पर उदासी की छाया स्पष्ट रूप से झलकने लगी उसने ऊषा के प्रश्न का कुछ उत्तर न दिया।

"आपने स्वीकार क्यों नहीं किया ?" ऊषा ने सरल वाणी से पूछा।

"मैं कैसे स्वीकार करता मेरा जीवन तो बड़ा विचित्र है। जगदीश ने उसी वाणी से उत्तर दिया।

"उसमें एक और विचित्रता बढ़ा देना समझे!" ऊषा के जीवन में कला थी। उसका उठना बैठना फिरना आदि चेष्टाओं में एक सुन्दरता की झलक रहती थी। ना समझ मनुष्य भी समझ सके इस प्रकार की छटा उसकी बात-चीत में होती थी। उसके शरीर व अङ्गों में स्वाभाविक चेष्टा सौन्दर्य की छाया पड़े बिना न रहती थी। उसने बोलते समय जान बूझकर अपनी आँखों को ४५ डिगरी का कोण बनाकर देखा और स्मृति मिश्रित क्रोध की मुद्रा उसके मुखारबिंद पर झलक आयी! सर से खिसके हुए साड़ी के छोर को उसने आगे की ओर सरकाया ऐसा करने से ऊषा का हाथ जगदीश से छू गया जगदीश को अपनी ओर्मी की छटा याद आयी। ओर्मी से कम उम्र की किन्तु कुछ अधिक भराबदार देहवाली 'ऊषा' ओर्मी जैसे शरीर सौंदर्य भाव और सौंदर्य प्रदर्शित कर रही है। इसमें जगदीश को बहुत नवीनता मालूम हुई वह तुरन्त समझ गया कि विजय से भरी ऊषा की आँखों में मस्ती और चंचलता है और शायद वह मस्ती और तूफान उसी के कारण ही ऊषा में उत्पन्न है। इससे वह चौंका!

स्त्रियों के प्रति उसमें पूज्य भाव रहता था। बचपन से ही वह घूमने फिरने का शौकीन और खुले मैदान में टहलने का आदी था। दूसरी स्त्रियों के प्रति उसके हृदय में वासना का भाव कभी पैदा हुआ ही नहीं। उसे विश्वास था कि स्त्री जाति विशुद्ध है। और जहां भरण-पोषण के साधनों का सम्पूर्ण अभाव रहता है। वहीं स्त्री अशुद्ध बन जाती है। स्त्री भी मानव हृदय रखती है। उसमें भी 'काम' रहता है। और इस कारण और नौकरानियों के बदचलन का उसे अवश्य ज्ञान था। उन्हें वह क्षम्य भी समझता था, क्योंकि इसका कारण उनके थोड़े धन मिलने के कारण गुजर न चलना था। किन्तु किसी सभ्य शिक्षित तथा साधन सम्पन्न स्त्री के विषय मेंकोई ऐसी बात करता तो वह नहीं मानता था और बात करने वालों को हरा देता था।

अपने ऊपर १० हजार की मिथ्या चोरी का आरोप है और ऐसे मुलजिम को अजीब रूप छटा सौंदर्य वाली नवयुवती उससे उच्च श्रेणी की उससे प्यार करती है यह दोनों विचार कठोर प्रहार की भांति उसके मस्तिष्क में टकराये। उसे यह ठीक न लगा।

"आपकी जैसीतबियत ठीकचाहिये वैसीठीक नहीहै न ?"ऊषा ने पूछा और पूछने के साथ उसने जगदीश के हाथ को दृढ़ता से पकड़ लिया। मानो वह बुखार का तापमान देखती हो। इससे जगदीश को बड़ा रौमान्स हुआ फिर ऊषा ने अपने पास पड़े एक कीमती शाल को जगदीश को देते हुए पूछा आपको मोटर में ठण्ड तो नहीं लग रही यह शाल ओढ़ लीजियेगा।

बसची सर्दी का यन्त्र मनोभावों का ख्याल नहीं रखता। मानव हृदय की शुद्ध दुर्बलता का जरा भी ख्याल किए बिना मोटर आगे बढ़ती जा रही थी। उसमें बैठने वाले भावुकों की बिना परवाह किये आगे बढ़ते यन्त्र को जरा भी ग्लानि नहीं होती थी

देखते देखते मोटर शहर से बाहर आ गई और वहां से कुछ दूर नदी के किनारे पर पहुँच गई। एकाएक शौफर ने पूछा बीबी जी गाड़ी कहाँ रोकूँ। ऊषा शौफर और मोटर के अस्तित्व को भूल गई थी उसने कहा बस यहीं पर—चलो जगदीश जरा किनारे पर घूम आयें।

जगदीश को भाग कर जाना था, कहां भागना था—इसका उसे स्वयं ज्ञान नहीं था वह चेतना हीन था—ऊषा को नदी के किनारे जगदीश के साथ घूमना था। संस्कारों की असमानता से बेचैन उसकी आत्मा में ओमी और जगदीश का प्रेम देखकर भयंकर असन्तोष हुआ ओमी को ऐसा पति था कि उसकी निष्फलतायें होने पर भी ओमी उस पर जान देती थी! ऊषा को ऐसा पति मिला था कि जिसकी सफलता होने पर भी उसका उल्लास उसे देखते ही मिट जाता था। किस लिए मुझे ऐसा पति नहीं मिला? इस दम्पति के प्रेम को देखकर ऊषा को हर्ष भी होता और ईर्ष्या भी।

उसके संस्करणों ने उसे चेतावनी दी कि पति के सिवाय दूसरा पर पुरुष कहलाता है। और उसकी ओर जरा भी झुकना पाप माना जाता है! फिर भी उसकी रस वृत्त ने तीव्र वेदना-मय होकर पुकारा कि इसमें मेरा क्या? मुझे कहाँ तृप्ति मिलती है? मुझे असन्तोष होगा तो यह पाप फिर किसे लगेगा?"

कितने ही समय तक संस्करणों की जीत रही पति में ही सारे रूप गुणों का निधान पति को मानकर ऊषा ने अपनी रस वृत्ति को दबाकर शान्त रखने का बड़ा प्रयास किया। उसको देखना और उसका विचार करना तक ऊषा ने छोड़ दिया था! यहाँ तक कि उसकी अस्वस्थता के दूसरे दिन से अब तक वह

जगदीश के घर नहीं गई। अलबत्ता सभ्य पड़ोसी के तौर पर खबर पुछवा लेती। परन्तु जगदीश को चूमते पकड़ी गयी कोकिला अपनी 'ओमी' को देखकर उसके हृदय में उत्पन्न हुई उमंग ने उसे शान्त कर दिया और सद्गुणा गृहणी की भांति वह शान्त और स्थिर हो गई!

कोई समय में ही इस स्थिरता के पाये फिर डगमगाने लगे। रस वृति के विद्रोह जैसा प्रबल विद्रोह किसी दलित जनता में भी नहीं होता जगत को जलाने को ज्वालामुखी पर ढक्कन न रख कर उसे दबा देने का प्रयत्न अभी नहीं हुआ था। ज्वालामुखी की ज्वाला से तो भोग देने पर ही छुटकारा था यदि उसे सन्तुष्ट न किया जाय तो वह संस्करणों को जला डाले चरित्रको बिगाड़ दे। और जीवन की आहुति कर उसे धधकता अंगारा या बिल्कुल ही राख बना देती है रस वृत्ति का विरोध पुण्य नहीं है। जहाँ रस वृत्ति को पूर्ण सन्तोष होता है वहाँ महा पुण्य प्रगट होता है इस रस वृत्ति को दबाने का जहाँ प्रयत्न होता है वहाँ सैकड़ों पाप सताते रहते हैं।

ऊषा ज्यों २ अपने पति से सन्तुष्ट होने का प्रयत्न करती त्यों २ उसकी रस वृति अधिक तीव्र होती गई उम्र और संस्कारों के बराबर न मिलने पर पति पत्नि की रस वृतियाँ एक नहीं हो सकती एक होने के प्रयत्न में परस्पर टकरा कर अपने ही सामने थक कर बैठ जाती है प्रेम की भूखी "ऊषा" को सतत प्रेमोचार करने की उसके पति में शक्ति नहीं थी और उसे भोगने को कौन लता भी उसमें नहीं थी। ज्योंर वह जगदीश को भुलाना चाहती त्यों त्यों वह उसकी स्मृति में अधिक स्पष्ट रूप में अंकित होता जाता। मानों पति का परिचय घट कर जगदीश की तरफ ममत्व और अपना पन बढ़ता जाता हो पति का नाम था मोहन

मानो मोहन पराया बन गया था। पराया तो पहिले से ही था, यह सत्य अधिक प्रबलता से ही प्रगट हुआ। कारण, अपना पात्र बनाने लायक एक पुरुष उसे मिल गया।

"ऊषा" एक टक जगदीश को देख रही थी- बगल में-नदी की लहरों की तरह बल खाती पानी की तरह छलकती फूलों की तरह हंसती मुस्कराती ऊषा को देख कर उसे बार बार ओमी की याद सताने लगी- उस ने कुछ ऐसा अनुभव किया कि मानो बगल में ओमी खड़ी उसे झकझोर कर कह रही है-

किस उलझन में डूब गये कवि महाराज- देखो कितना मनोहर दृश्य है- आओ इस ओर विशाल चट्टान पर बैठें- आज तो मैं तुम से अवश्य ही वह गीत सुनूंगी जो तुम ने मेरी याद में पिछले वर्ष रक्सौल में लिखा था—

और "ऊषा" ने उस की बांह पकड़ कर खींचते हुऐ चट्टान के ऊपर लेगई- और कहने लगी:—

"यहाँ बैठिये।"

और ऊषा भी जगदीश से बिल्कुल सट कर बैठ गई- एक टक उसे देखने लगी।

"सुनाओ न।"

कितनी मिठास थी दो शब्दों में; जगदीश अपने आप गुनगुनाने लगा।

याद वह क्षण आ रहे हैं।
जब तुम्हारी याद में मैं श्वेत मोती से पिरोता।
चिलमिलाती धूप में भी एक टक मैं बाट जोहता॥
थकित होता राह तकता दर्द सा उठता हृदय में।
हाय! फिर भी तुम न आतीं और मैं उद्विग्न होता॥

याद वह क्षण आरहे हैं ।
जब प्रणय को थपकियाँ रंगीनियां साकार होतीं,
जब हमारी लालसायें एक नवजीवन संजोती ।
प्यार होता, मान होता, रूठता तुम को मनाता,
तुम थिरक कर पास आतीं और मैं मदहोश होता ।

याद वह क्षण आ रहे हैं ।
जब प्यार की अनुभूतियाँ आगोस में आ गुदगुदातीं,
या प्यार की ही रात आकर चिरमिलन के गीत गातीं।
स्वप्न बन २ कर बिगड़ते, आस की अरथी निकलती,
एक मीठी वेदना से प्राण मेरे तड़फड़ाते ।

याद वह क्षण आरहे हैं ।
व्योम में आ तारिकायें झूमती सी झिलमिलातीं,
चन्द्रमा की शीत किरणें अवनि आकर चूम लेतीं ।
हाय उन मादक क्षणों में हृदय में उल्लास भरकर,
मैं प्यार के उद्गार कहता और तुम मुख मोड़ लेतीं,
याद वह क्षण आरहे हैं।

गीत समाप्त होगया; किन्तु, ऊषा जमीन और आसमान की सन्धि पर डूबते हुए सूरज की अधखुली आंखों की भांति अपने नयनों से जगदीश की रूप-सुधा का पान करती रही—और बड़ी देर बाद उसी तरह ताकती हुई बोली

"जगदीश तुम मेरे हो"

....

जगदीश को अपने पास बिल्कुल करीब खींचते हुए—

"जी चाहता है, हमेशा तुम्हारे पास रहूँ, तुम्हारे बदन से लगी रहूँ। पिछले कई दिनों से मैं बड़ी बेकल रहती हूँ—जालिम कुछ तो तरस खाओ देखो मैं तुम्हारी याद में बराबर जलती रहती हूँ—आज मैं तुम्हें पाये बिना नहीं रहूँगी—काश तुम्हारे भी किसी युवती जैसा दिल होता—लेकिन मैं आज······

ऊषा ने उसे इस प्रकार अपने बदन से बांध लिया कि वह बन्धन प्रति क्षण मजबूत होता गया और फौलाद सा मजबूत हो गया दो प्राण···एक दो स्वर एक··· दो श्वास एक होने जारहे थे कि अचानक जगदीश की तन्द्रा भंग हुई—जोर से चीख उठा

"ऊषा"···क्या करती हो। मैं तुम्हें बहिन से ज्यादा नहीं समझता

देखो जगदीश तुम एक बार मेरी ओर देखो सिर्फ एक बार आखिर तुम समझने की कोशिश क्यों नहीं करते जालिम··· और ऊषा ने बाहुपाश में जगदीश को और भी एकबार कस कर हृदय से चिपटा लिया

ऊषा छोड़ दो मुझे·······छोड़ दो तुम मेरी नहीं···किसी की अमानत हो—मैं तो तुम्हें सिर्फ बहिन से ज्यादा और कुछ नहीं समझता·······छोड़ दो—ऊषा—छोड़ दो

जगदीश एक भयानक चीखमार बेहोश हो ऊषा के बाहुओं में जकड़ा भूल गया—शरीर बेजान सा होगया—मानो प्राण हैं ही नहीं—"ऊषा" घबड़ाई, निढाल सा उसका भी शरीर

हो एक ओर लुढ़क गया—फिर सम्हली—एक तरफ जगदीश को लिटाकर—शिला से नीचे उतरी—पानी की ओर सोचती विचारों में तल्लीन यह युवक—जगदीश कितने महान विचारों का है मैं जितना इसके करीब जाती हूँ वह उतना ही मुझ से भागता है—उफ—मैं पागल होगई थी—मेरा मोहन के प्रति क्या कर्त्तव्य है?

"ऊषा" ने अपनी साड़ी का पल्ला पानी में भिगोकर पुनः चट्टान पर झिझकती सी पहुची और जगदीश के सर को अपनी गोद में रखकर पानी के छींटे धीरे २ उसके मुँह पर डालने लगी—जगदीश बेहोश—मस्तिष्क में तूफान आया—सारा बदन कांपने लगा—यह नारी यौवन के भार से दबी···मानव को जन्म देने वाली जननी का इतना पतन—सृष्टि की उत्पादिनी शक्ति अपनी वासना की तृप्ति करने को आगे बढ़ाये बढ़ रही है। उफ! लज्जा! प्रतिष्ठा! मान! सब कुछ भूल गई आज की नारी का इतना घोर पतन देखकर भी क्या जीने की तमन्ना शेष रही है? मर जाना चाहता हूँ कितना परिवर्तन होगया है इन नारियों में ?..................

"भैया जगदीश उठो!"

क्या जादू था शब्दों में जगदीश की महान बे होशी क्षणों में भंग होगई—ऊषा के कोमल हाथ उसके मस्तिष्क पर धीरे धीरे फिर रहे थे—और उक्त शब्द बार २ उसके मुँह से निकल रहे हैं।

"मेरी अच्छी बहिन!"

जगदीश ने जोर से चीखकर ऊषा को अपने शरीर से चिपटा लिया—

जगदीश ने सुना कोई महापुरुष नदी में बहती नाव में बैठा गाता चला जारहा है।

राम करेगा होगा वोही
कृष्ण करेगा होगा वोही
भूला मन भटकाले कोई—राम···

—

ममता

"बेटा बहुत दिन बीत चुके पहले तो कहना ही था कि पैसे नहीं है पर अब तो भग-वान की कृपा है किक्कू भी अपने घर सुखी है और मैं भी अकेली हो गई हूँ आह ! कितनी आशाएँ थी तेरे बाप की !! तुम जब छोटे थे कहता था वह शुभ दिन कब आएगा मगर !!! आयु ने धोखा दिया।" कहते कहते जमना की आँखों में आँसू आ गए।

प्रकाश का दिल पसीज गया मगर उसके विचारों ने पल्टा खाया उसका दिल चिल्ला २ कर कहने लगा अच्छे काम में हजारों रुकावटें आती हैं क्या मेरी शादी तुम्हारे उद्देश्य के लिए मुसीबत नहीं पैदा करेगी ?

"माँ मुँह क्यों इतना तंग करती हो तुम चाहती हो कि तुम्हारी खुशी के लिए अपना उज्जल भविष्य बलि कर दूँ ? तुम्हारी खुशी के लिए कोरे लट्ठे की कमीज फटा हुआ जूता मलेशिया की पैन्ट पहन कर आफिस के गैर दिलचस्प वायु मन्डल में साठ रुपये मासिक के लिए अपनी जिन्दगी बरबाद कर डालूँ ? माँ मैं इतनी कुर्बानी न कर सकूँगा मुझसे ऐसा न होगा।

शहर के बीच में एक खुशहाल कुन्बा रहता था, भाई बहिन और माँ। बहिन तो जल्दी पराई हो गई और भाई यानी प्रकाश को बी० ए० पास करने के बाद ऐसी नौकरी मिली कि जिसका ख्याल उसे स्वप्न में भी न था सिर्फ साठ रुपया मासिक क्लर्क बन गया।

कौन माँ होगी जिसके दिल में तमन्ना न होगी बहू लाने की? मगर प्रकाश हमेशा 'ना-ना' कहता था और जमना समझती थी कि यह सिर्फ दिखाने की ना-ना है उसे विश्वास था कि उसका बेटा उस की मर्जी के खिलाफ नहीं जा सकता उसने चुपचाप घर ढूंढकर मंगनी की तैयारी कर दी थी

सर्दी के दिन थे रात के नौ बजे थे जमना ने बात शुरू की मगर प्रकाश का ऐसा साफ जवाब सुन कर ज्यादा न बोल सकी और बिस्तर पर जाकर लेट गई और प्रकाश गुम हो गया ख्यालों के सागर में। कभी कभी इन्सान जागते भी स्वप्न देखने को मजबूर हो जाता है और वह ऐसे वायु मन्डल में गुम हो जाना चाहता है जहाँ उसकी आशाओं की पूर्ति होती नजर आए, भले ही वह थोड़ी देर के लिए हो। ठीक इसी तरह प्रकाश ने देखा एक ऊँचे कदका पुरुष उसके चेहरे पर कितना तेज था! पुरुष उस तरफ इशारा कर रहे थे, और उसकी प्रशंसा करते थकते ही नहीं थे—वह ऊंचे कद वाला व्यक्ति उसी का ही रूप था, वही प्रकाश था मगर अचानक उसके स्वप्नों की दुनियाँ को किसी ने एक ही चोट से गिरा दिया। वह पागलों की तरह देखने लगा और फिर गुम हो गया ख्यालों की दुनियाँ में! उसने सोचा था:—

वह दुनियाँ देखेगा इस तरह, कि वह दुनियाँ के चप्पे २ को जान जाए, वह अच्छी तरह देखेगा, सब के रीति-रिवाज और उनकी बोलियाँ सीखेगा, दुनियाँ, दुनियाँ न रहेगी उसके

लिए सब उज्ज्वल होगा। उत्तरी ध्रुव, दक्षिणी ध्रुव पर उसके पाँव के निशान होंगे। कितना सुन्दर दृश्य देख रहा था वह उसके साहित्य का लोहा सारी दुनियाँ मानती है उसका चरित्र सूर्य की तरह उज्ज्वल और चेहरा तेज से चमक रहा है। उफ! कितना सुन्दर दृश्य! कितने सुन्दर विचार!!

प्रकाश ठण्ड की वजह से ज्यादा देर न बैठ सका और लेट गया।

प्रातःकाल का सूर्य निराला है और हर एक के लिए निराला सन्देश लाता है और प्रकाश के लिए भी सूर्य एक नई जिन्दगी का सन्देशा लेकर आया।

जमना सबेरे उठ न सकी। बुखार और उल्टियों से विचलित हो गई थी। रात में उसकी शकल बदल गई। ज्वर की वजह से हालत सख्त खराब मालूम पड़ रही थी।

प्रकाश उसी कोने के कमरे में खड़ा सोच रहा था माँ को रात की घटना से दुःख तो नहीं पहुँचा उसके नाजुक ममता भरे दिल को चोट तो नहीं पहुँची? सब मिल सकता है, बाप, बहिन, भाई, और माँ। मगर माँ की ममता भी फिर मिल सकती है? उसने पूछा! "सूर्य से!"

हवा से!!

दिवारों से जमीन से, आसमान से!!!

और अपने उद्देश्य से!!!!

मगर "नहीं नहीं" गूंज गया उस के दिल में।

बी० ए० पास किया, छोटे से बड़ा हुआ, नादान से अक्ल आई, बीमारी में किसने देख-भाल की?

उसको भूख में किसने पेट की पट्टियाँ बाँधकर उसे ठूंस २ कर खिलाया ?

उसकी बी० ए० तक शिक्षा दिलवानें में किसने अपनी जान की बाजी लगाई ? बाप तो बचपन में ही मर गया था !

और आज वह उसकी मर्जी को अपने रास्ते की रुकावट समझता है ! टाँगे भी कांपती थी उसने सहारा दिया। बुरी आदतों पर उसने पीटा। बीमारी के वक्त उसने जबर्दस्ती कड़वी दवाई पिलाई—सब कुछ उसने भला समझकर किया वह अब अनिष्ट चाहेगी ?

प्रकाश ज्यादा सह न सका उसका दिल और ताब न ला सका उसकी आँखों में से आंसू बह निकले और तड़पती हुई आवाज में पुकार उठा

"मां !"

कितना राज था उस एक शब्द में, जो काम जमना के दिल-सोज शब्द न कर सके वह कुदरत ने खुद किया। मगंनी होगई, प्रकाश ने कुर्बान किया अपने उद्देश्यों को मांके ऊपर।

मगर वो कुर्बानी कैसी जो रोते हुए की जाए !
वह सिर क्या जो कराहते कटे !!
वह दान क्या जो दुखते हुए दे !!

प्रकाश सवेरे आफिस जाता था और चुपचाप खाकर घर में सो जाता था। दिन व दिन गुमसुम होता गया। न वह खुशी न जिन्दा-दिली ! दो महीने रह गए थे प्रकाश की शादी में। एक महीना और गुजरा, दिन घटते गए मगर प्रकाश की परेशानी बढ़ती गई।

बाकी एक सप्ताह! एक दिन घटाने के लिए शनिवार से

रविवार हुआ। जमना सवेरे ही नहा धो कपड़े बदल घर से निकल गई और चार घण्टे बाद लौट आई।

प्रकाश धूप में बैठा था उसके मुँह पर गम्भीरता नजर आ रही थी, उसने देखा प्रकाश को, उसके रूखे बाल, मुर्झाया हुआ चेहरा, बेनूर आंखें! कौन बेदर्द मां होगी जो बेटे का यह हाल देख, वेदना सह सके!

"प्रकाश मुझसे तेरा हाल सहा नहीं जाता, जा हाथ मुँह धो कपड़े बदल—फिकर मत कर मैं तेरे उद्देश्य में कांटे नहीं बोना चाहती जाकर तैयारी कर, सबेरे चार बजे जो बम्बई की गाड़ी जाती है उसी में ही रवाना हो जा उद्देश्य की पूर्ति जितनी जल्द होसके उतना अच्छा—मैं तो नदी किनारे खड़ा हुआ पेड़ हूँ आज नहीं तो कल गिरा, फिर थोड़ी सी खुशी के लिए तेरी जिन्दगी क्यों बरबाद करूँ।"

जमना ने यह सब एक साथ मगर, दिलसोज आवाज में कहा यह आवाज उसके दिल से निकल रही थी उसकी आंखों में आंसू तैरते थे, मगर उनमें से आत्मिक झलक साफ नजर आ रही थी।

प्रकाश ने हैरत और अहसान मन्दी से अपनी आंखें मां की आंखों में गाड़ दी और दोनों की आंखें भीग गईं।

जमना ने कहा "तेरी मंगनी तोड़ आई हूँ और अब तू आजाद है।" कहते-२ जमना दूसरे कमरे में चली गई।

अब प्रकाश ने समझा कि मां सवेरे-२ कहां गई थी।

वह खुशी में तैयारियां कर रहा था कितनी अजीब बात। वह अक्सर जमाना को कहता था "मां मुझे जाने दो" मगर

जमना इनकार कर देती थी और आज उसे जल्दी जाने के लिये कह गई थी और जमना सबर का घूंट भर कर बैठी थी दूसरे कमरे में, मगर उदास !

दूसरा सवेरा हुआ मगर प्रकाश आज घर में नहीं था। जमना नौ बजे उठी उसको न मालूम क्या हो रहा था यह वह खुद भी न समझ सकी मगर उसे ऐसा महसूस हो रहा था कि उसने गंवाया है प्रकाश को, नहीं नही अपने जीवन के सहारे को ! आंखों की रोशनी को !! हमेशा के लिए। सोचते-२ उसे यह पता नहीं पड़ा कि वह कितनी देर से बैठी है आखिर वह उठी उसने पति की आखिरी निशानियां, बहू के लिए मंगाए हुए तोहफे निकाले। कपड़े, जेवर; और बची हुई मिलकियत बांटी अनाथों में, गरीबों और फकीरों में अपने लिए सिर्फ बचाया शरीर वाले कपड़े और एक बिस्तर।

दूसरे दिन सूर्य निकला ! जमना की लाश बिना हिलेडुले झोंपड़ी में पड़ी थी और दूसरी तरफ प्रकाश की ट्रेन बम्बई की तरफ बड़ी तेजी से बढ़ी जारही थी..............